सफल जीवन

सफल जीवन

सत्यकाम विद्यालङ्कार

राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

प्रस्तावना

पुराने सत्य : नये प्रयोग

भले-बुरे में परख करने की बुद्धि जागने के साथ ही मनुष्य के दिल में बहुत-से सीधे-टेढ़े प्रश्न पैदा होने लगते हैं। प्रश्न का उत्तर भी मिलता है; लेकिन फिर प्रश्न खड़े हो जाते हैं, और यह सिलसिला निरन्तर घूमने वाली घड़ी के समान निरन्तर चलता ही रहता है।

यह सब खुद-बखुद होता है और होता ही जाता है। मन में उठते इन प्रश्नों का ठीक से जवाब न मिले तो विवेक कुण्ठित हो जाता है। यह कुण्ठा मनुष्य के स्वाभाविक विकास और उत्कर्ष को असम्भव बना देती है।

इन प्रश्नों का ठीक से जवाब मिले तभी बुद्धि का सन्तुलन स्थिर रहता है। अतः आदर्श सन्तुलन के लिये इन प्रश्नों का जवाब मिलना बहुत ज़रूरी है।

इन प्रश्नों का बाहरी रूप प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति और भाषा के अनुसार भले ही जुदा हो, मूल रूप एक ही होता है।

ये प्रश्न प्रायः इस रूप में होते हैं :—

जीवन का आदि-स्रोत क्या है ? अन्तिम लक्ष्य क्या है ? जीवन अधिकतम सुख भोगने के लिये होता है या त्याग के लिये ? जीवन पुराने

जन्मों के सुकृत भोगने के लिये है या भाग्य में लिखे कष्टों को जैसे-तैसे निभाने के लिये ?

प्रश्नों की एक और भी कड़ी है जो मन को जकड़े रहती है। हम अपने आप में पूर्ण हैं या अपूर्ण ? सफल जीवन के लिये सामाजिक आदर्शों का बन्धन जरूरी है या नहीं ? जीवन व्यक्ति-निष्ठ या समाज-निष्ठ ? पुरुषार्थ का चरम लक्ष्य आध्यात्मिक है या भौतिक ? आत्म-कल्याण है या विश्व-कल्याण ? परम सुख की भावना आत्मानन्द में है अथवा विश्व-प्रेम में ? और यदि इन दोनों में समान रूप से है तो इनमें कौन गौण है कौन मुख्य ? कौन साध्य है और कौन साधन या उपकरण मात्र ?

इन्हीं प्रश्नों का उत्तर पाने को मनुष्य आजीवन व्याकुल रहता है।

अधिकांश काम-काजी आदमी इन प्रश्नों की उपेक्षा करते हुए अपने नित्य नैमित्तिक कार्यों को निभाते जाते हैं। एक सीमा तक यह भूले रहने की नीति क्रियात्मक भी है। इन्हें विस्मृत रखने से हमारा संशय-शील मन कुछ काल के लिये आश्वस्त-सा भी अनुभव करता है।

लेकिन यह आश्वासन केवल एक धोखा है। इससे व्यक्ति के आदर्श-विकास में न्यूनता रह जाती है। मन में उठते प्रश्नों का साग्रह दमन करने से आत्मा के विकासशील अंकुर नष्ट हो जाते हैं। उपेक्षा का तुषारपात उन्हें निर्जीव बना देता है। आत्मा निस्तेज हो जाती है।

इन प्रश्नों के बलपूर्वक उपशमन की प्रतिक्रिया हमारे जीवन-विकास में भी उलटी होती है। भले ही वह बाह्य रूपों में दिखायी न दे, इसी अस्वाभाविक रोक-थाम का परिणाम होता है कि सामान्य व्यक्तियों के हृदय में एक गाँठ-सी पड़ जाती है। जीवन भर ये व्यक्ति बन्धे-बन्धे जिन्दगी जरूर निभाते हैं किन्तु यह निभाना एक स्वस्थ, स्वतन्त्र व्यक्ति का आनन्दपूर्ण निभाना नहीं बल्कि मशीन में लगे पुरजों का बेजान-सा हो जाना है। इसी गुलामी में मनुष्य का सारा जीवन बीत जाता है।

जीने की यह मजबूरी पशु के लिये उपयुक्त हो सकती है, मनुष्य के लिये नहीं। मनुष्य जीवन का अर्थ केवल सांस लेना नहीं है। मनुष्य और पशु में यही अन्तर है। पशु सारा जीवन खाते-पीते बिता देते हैं; मनुष्य खाने-पीने के अलावा सोचने वाला प्राणी भी है। बुद्धि की सहायता से वह भौतिक जगत से ऊपर उठकर मनोमय जगत में पहुँचकर मानव-जीवन बिताता है।

जो मनुष्य दैहिक विलास तक ही अपनी महत्वाकांक्षाएं रखते हैं, वे वस्तुतः आधी जिन्दगी जीते हैं। और दुर्भाग्य से वे एक ऐसी दैन्य भरी जिन्दगी बिताना कबूल करते हैं जो मनुष्य के लिए शोभनीय नहीं।

मनुष्य के लिए ऐसी हीनता स्वीकार करना कायरता है। कायरता की जड़ निष्कर्मण्यता में नहीं बल्कि विवेक-हीनता में होती है। विवेक होने के कारण हमारे हृदय में जो प्रश्न उठते हैं बुद्धि द्वारा उनका उत्तर पाने की कोशिश करना ही मनुष्यता है; मनस्विता है।

सृष्टि के आदिकाल से आज तक के चिन्तकों ने श्रुति, स्मृति, ज्ञान, विज्ञान के जो वाक्य कहे, वे सूत्ररूप में थे, उनका उद्देश्य इन प्रश्नों का उत्तर देना ही था। उस समय वे ग्रंथ ब्रह्म वाक्य माने गये। उनमें मनुष्य की बुद्धि का सम्पूर्ण निष्कर्ष निहित था। आज भी उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। उनमें प्रतिपादित सत्य आज भी हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। किन्तु आज उन परिभाषाओं का ठीक अर्थ कोई नहीं समझता।

ऋचाओं और मंत्रों के गुह्य अर्थ ग्रहण करने की शक्ति आज पहुँचे हुए विद्वानों में भी नहीं है। आज हम उनकी गहराई नहीं माप सकते। वह ज्ञान कितना ही गहरा हो; यदि सर्वसाधारण की बुद्धि उनके अर्थों को ग्रहण नहीं कर पाती तो उनकी उसी रूप में सार्थकता नहीं रहती। वे पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकते।

आज के जीवन की उलझनों को वही विचार सुलझा सकते हैं जो आज की भाषा में प्रकट किये गये हों। इस नवीन विचार-धारा के

आधारभूत सत्य भले ही वही हों, जो सहस्रों वर्ष पूर्व थे; किन्तु उनकी व्याख्या आज की पृष्ठभूमि को समक्ष रख कर आज की प्रचलित भाषा में—उस भाषा में, जिससे जन सामान्य, पूर्णतः परिचित है, करनी होगी।

इसी आवश्यकता को अनुभव करते हुए लेखक ने इस पुस्तक को लिखने का साहस किया है।

—सत्यकाम विद्यालङ्कार

विषय-सूची
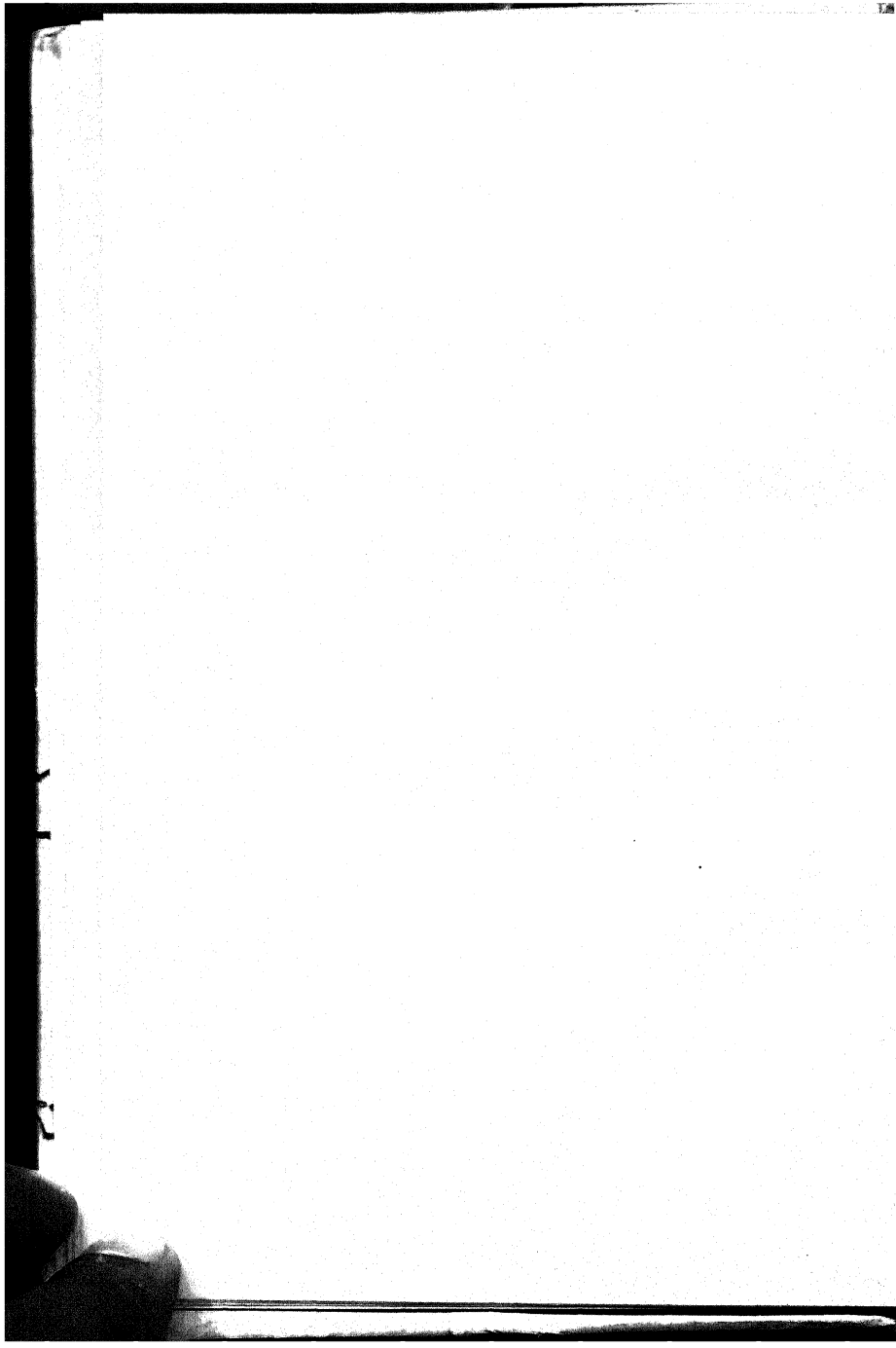
१.

आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्

जीवन अपने परदे आप खोलता है

दो वाक्यों में भी जीवन का अर्थ किया जा सकता है और दो सहस्र ग्रन्थों में भी नहीं किया जा सकता। यही जीवन का सौन्दर्य है। और यही जीवन की कठिनतम ग्रन्थि है। यह ग्रन्थि इतनी उलझी हुई है कि एक ओर तो दुनियाँ के सब चिन्तक मिलकर भी इसे सुलझा नहीं सकते और दूसरी ओर यह इतनी सुगम भी है कि एक अनजान, किन्तु सहज, सरल आदमी के हाथों वह स्वयं सुलझ जाती है।

उपनिषदों में कहा गया है :

"यमैवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥"

अर्थात् जिसका वह वरण करले उसी से वह लभ्य है, उसी के सामने वह ब्रह्म अपने को निरावृत करता है, बेपर्दा होता है।

यही बात जीवन के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है।

जीवन भी उसके सामने स्वयं खुल जाता है जिसे व्यक्ति स्वयं वरण कर ले। जो जीवन से प्रेम करते हैं उनके लिए ही जीवन अपने सुन्दर शरीर को निरावृत करता है।

देखने वालों ने जीवन को जितने दृष्टिकोणों से देखा है उतने ही रूपों में जीवन का स्वरूप प्रगट हुआ है। जिस की जैसी दृष्टि रही उसके लिए जीवन का वैसा ही स्वरूप बना।

किसी ने इसे केवल आँखों का धोखा कहा, मिथ्या-माया कहा, तो किसी ने इसे पवित्र यज्ञ का रूप दिया।

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" और "यज्ञो वाव पुरूषः" एक ही हिन्दू धर्म-शास्त्र के दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले सूत्र हैं।

कुछ दार्शनिक मनुष्य जीवन को केवल प्रज्ञामय कह गये, कुछ ने इसे प्राणमय ही बतलाया और कुछ प्रेम-विह्वल सन्तों ने भक्ति-सागर में ही जीवन को डुबो दिया। जो ज्यादा समझदार थे उन्होंने सबका समन्वय करने की भी कोशिश की। उन्होंने प्रज्ञा, प्राण और भक्ति को एक दूसरे का पूरक बतलाया।

लेखक के विचार में जीवन को किसी भी एक ही पहलू से देखना भूल है। और उससे भी बड़ी भूल है थोड़ी-सी संकीर्ण परिभाषाओं में जीवन को समेटकर बांध देना।

परिभाषाएँ विचारों को प्रगट करने का माध्यम होती हैं। लेकिन माध्यम की दीवारों में बंधने के बाद विचार विचार नहीं रहता, केवल परिभाषा रह जाता है। विचार-रूपी पक्षी इन

शब्द-जालों में बंधकर अपनी उड़ान खो बैठता है, और अन्त में तड़प-तड़प कर मर जाता है।

इसीलिए लेखक की धारणा है कि इने-गिने सूत्रों में विचारों को बांधने की प्रथा मिट जानी चाहिए। विचार तभी तक प्राणवान रहते हैं जब तक उन्हें स्वतन्त्र रखा जाय। स्वतन्त्र विचारों के लिए सीमाहीन आकाश चाहिए।

पुरानी सीमाओं में नये विचार बांधना विचारों की हत्या करना है। विचार-प्रिय व्यक्तियों के लिए इस हत्याकाण्ड का हिस्सेदार बनना उचित नहीं है। उन्हें स्वतन्त्र-रूप से जीवन का अध्ययन करना और अपने शब्दों में जीवन का अनुभव व्यक्त करना ही उपयुक्त है।

शताब्दियों से यही अध्ययन और चिन्तन-क्रम चल रहा है, चलता रहेगा। बहुत पुराने चिन्तकों ने इसे जिस रूप में देखा वह सूत्र-रूप में शास्त्रों में लिखा है और व्याख्या-रूप में पुराणों तथा स्मृति-ग्रन्थों का विषय बन चुका है।

पूर्व-पश्चिम के नये चिन्तकों ने भी जीवन का अर्थ समझने-समझाने की कोशिश की है। उन्होंने भी जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

उनमें अधिकांश ऐसे हैं जिन्हें जीवन को किसी विशेष अर्थ की सीमा में बांधना अभीष्ट नहीं है। उनका अभिमत है कि मनुष्य-जीवन अपने में बिलकुल आजाद इकाई नहीं, बल्कि विश्व की प्राणधारा का अंगमात्र है। जीवन का अर्थ केवल स्वयं

प्राणवान रहना और यथाशक्ति अपना विस्तार करने के अतिरिक्त कुछ नहीं। यह उसी तरह है जैसे एक बीज की जिन्दगी नये वृक्ष को जन्म देने के लिए और वृक्ष की जिन्दगी नये बीजों को जन्म देने के लिए होती है।

उनके विचार में जीवन एक ऐसी सदा-प्रवाहिनी प्राण-धारा है जो असीम वेग से बह रही है और जिसके स्रोतों का कभी क्षय नहीं होता।

एक नवीन विचारक ने इस भाव को सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है : "अनन्त गतिशील तरंगों में दिखायी देने वाला यह प्राण-प्रवाह पूर्ण सत्य है। इसका प्रत्येक कण स्वयं में पूर्ण है। यह परिपूर्णता ही उसमें अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति भरती है और उसमें विभोर होकर उसमें अदम्य गति, अक्षय प्रजनन-शक्ति आती है। वही आनन्द अपने अन्तःप्राण से नवीन प्राणों का सृजन करता है। एक धारा दूसरे में मिल जाती है और समस्त संसार एक प्राण-समुद्र का रूप ले लेता है।

आधुनिक अध्यात्म-चिन्तक रोम्या रोलां ने भी अपनी पुस्तकों में इन भावों को सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। उनका कहना है—

"मेरा अंतःकरण सदा जीवन-धारा की इस सदा बहने वाली प्राण-धारा में डूबा रहता है। यही जीवन-धारा प्रतिक्षण मुझे नया जीवन दिया करती है। यह धारा पार्थिव जल-

कणों से ही बनी है। यह हमारे प्रतिदिन के जीवन-कार्यों से ही जन्म लेती है और हमारा हर सांस इसमें नयी गति पैदा करता है। मैं इसमें जितना ही डूबता हूं, इसकी गहराइयों का जितना ही अवगाहन करता हूं, उतना ही इस धारा की रसमयता में खो जाता हूं और अनुभव करता हूं कि इस धारा का यह प्रवाह भी तो मैं ही हूं।"

यह सच है कि जीवन की शाश्वत बहने वाली प्राण-धारा कहने मात्र से जीवन की सम्पूर्ण व्याख्या पूरी नहीं हो जाती, किन्तु इस वाक्य से यह अवश्य होता है कि जीवन के अनेक रूप और उनकी महत्वपूर्ण विशेषताएँ अवश्य सामने आ जाती हैं।

'धारा' शब्द से वस्तु की अखण्ड गतिमयता प्रकट होती है। इसमें निरन्तर प्रवाह का भी आभास मिलता है। यह प्रवाह एक सनातन क्रम है, प्रकृति का अटल नियम है, यह प्रवाह ही जीवन का मूल-मन्त्र है।

प्रवाह शब्द कई अर्थों की ओर संकेत करता है। अपने अस्तित्व के एक अंश को खोकर दूसरे में मिलने और अपने स्थान को दूसरे के लिए देकर आगे बढ़ने से ही प्रवाह में निरन्तरता रहती है। अतः प्रवाह के वेगवान होने की पहली शर्त है—खुद को दूसरे में मिटाना, अपने स्थान को दूसरे के लिए छोड़ना।

जो अपने को देता है वही गतिमय होता है और जो दूसरों में अपने को विलीन करता है वही प्रवाह-योग्य धारा का निर्माण करता है।

अपने पास जो कुछ है वह सब संसार में खो देने से ही संसार की धारा प्रवाहित होती है, और इस दान-परम्परा में ही दान का क्रम चल रहा है। इस देने में ही प्राणों में निर्मलता और ओजस्विता रहती है।

नदी अपने बूँद-बूँद पानी को देती रहती है। इस देने में ही प्राणों में निर्मलता और ओजस्विता रहती है। इस निरन्तर देते रहने के कारण ही वह अन्तिम बूँद तक निर्मल बनी रहती है। उसका एक-एक कण शक्तिपुंज बना रहता है।

छोटा-सा बीज अपने को मिटाकर ही विशाल वृक्ष बनता है जो अनगिन फूलों से विश्व की शोभा बढ़ाता है। वह वृक्ष भी असंख्य बीजों में अपनी प्राण-शक्ति को देकर काल-प्रवाह में लीन हो जाता है।

मनुष्य-जीवन इस प्राण-परम्परा का ही अंग है।

जो इस सम्पूर्ण परम्परा में व्याप्त है वह विश्वात्मा है, और जो इसके अलग-अलग रूप में है वह आत्मा।

विश्वात्मा का अंश होने से मनुष्य उतनी सरलता से अपने अहम् को नहीं मिटाता जितनी सरलता से अन्य प्राणवान चराचर मिटाते हैं।

वह अपने अहम् को मूक प्रकृति से ऊंचा समझकर अमिट बनाने का प्रयत्न करता है।

प्रकृति से उसे जब जो मिलता है वह ग्रहण तो कर लेता है किन्तु उसे आगे प्रवाहित करने में वह कृपण हो जाता है।

यह कृपणता भविष्य के प्रति अविश्वास और विश्व की अखण्ड प्राण-धारा के प्रति अनास्था से पैदा होती है।

जो इस प्रवाह का अर्थ नहीं समझता वह कभी जीवन का अर्थ नहीं समझेगा। किन्तु यह प्रवाह इतना स्पष्ट है कि अन्धा भी इसे देख सकता है। इसे जानने के लिए शास्त्र-बुद्धि की आवश्यकता नहीं, केवल आस्था की आवश्यकता है।

आस्थावान इस प्रवाह का अर्थ बिना बतलाये समझ जाएगा, और यह भी जान जाएगा कि इस प्रवाह की व्यावहारिक परिभाषा क्या है।

इसे समझने के लिए अध्यात्मवादी होने की भी आवश्यकता नहीं। विशुद्ध भौतिक विज्ञानवादी भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं।

लेखक के विचार से आत्म-विद्या और भौतिक-विद्या दोनों एक दूसरे की विरोधी विद्याएं नहीं, बल्कि पूरक हैं। उपनिषदों ने इन्हें परा-अपरा विद्या का नाम दिया है और जीवन की पूर्णता के लिए दोनों को अनिवार्य बतलाया है।

ईशोपनिषद का मन्त्र है :—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।

विद्या और अविद्या—आत्म-विद्या और आत्मेतर भौतिक विद्या या विज्ञान—दोनों को एक साथ जानकर, विज्ञान की सहायता से मृत्युभय दूर करने के बाद, मनुष्य आत्म-विद्या से अमरत्व और शाश्वत आनन्द की प्राप्ति करता है।

आत्मविद्या जानने का अर्थ अध्यात्म-शास्त्रों का अभ्यास नहीं है।

शास्त्रों के अध्ययन से आत्मा का स्वरूप प्रगट नहीं होता।

आत्मा अनन्त पंखड़ियों वाले कमल की तरह अपने रूप को प्रगट करती है।

वह किन्हीं बंधी रेखाओं पर नहीं चलती, और न ही वह सरू के वृक्ष की तरह आसमान को भेदती हुई ऊपर उठती है।

आत्मा अपने ज्ञान की प्यास अपने ही सरोवर के पानी से बुझाती है।

मनुष्य के अपने ही मन में जो ज्ञान अर्धनिद्रित अवस्था में रहता है, उसके अतिरिक्त कोई ऐसा ज्ञान नहीं, जिसे कोई उपदेशों या प्रवचनों से दे सके।

शिक्षक भी विद्यार्थी को ज्ञान नहीं देते, बल्कि अपने प्रेम और अपनी श्रद्धा का ही अंश देते हैं।

वे विद्यार्थी को किसी दूसरे विद्यामंदिर में ले जाने का यत्न नहीं करते, बल्कि विद्यार्थी को उसके अपने ही आत्मस्थित विद्यामंदिर के द्वार तक ले जाते हैं।

शास्त्र भी हमें हमारे अन्तस्थित मन्दिर के द्वार तक ही ले जाते हैं।

आत्मा-विश्वात्मा और जीवन के इस अनन्त आवागमन की व्याख्या करते हुए जिस सत्य का प्रतिपादन उपनिषदों के ऋषियों ने किया उसी को विज्ञान के मन्त्रद्रष्टा आइन्स्टीन ने इन शब्दों में किया है :—

"मेरा अंत:करण कहता है कि इस पृथ्वी पर मनुष्य का अवतरण वास्तव में दूसरों के लिए ही हुआ है। कोटि-कोटि रूपों में बिखरा हमारा यह मानव-समाज एक अखंड आत्मीयता के प्रवाह में बँधा है। मैं तो प्रतिक्षण यही अनुभव करता रहा हूँ कि मेरे अन्तरीय और बाह्य जीवन के निर्माण में कितने अगणित व्यक्तियों के श्रम का हाथ रहा है। इस अनुभूति से उद्दीप्त होकर मेरा अंत:करण सर्वदा आतुर रहता है कि मैं कम से कम इतना तो इस दुनियाँ को दे सकूँ जितना कि मैंने उससे अभी तक लिया है—जीवन-सागर के इस भंवर-जाल में विभ्रांत और सिर से पैर तक उलझे हम मनुष्यों ने जीवन के मूल तथ्यों के बारे में गहराई से शायद ही कभी विचार किया हो। हम में से कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो जिज्ञासु भाव से यह सोचते हैं कि आखिर इस अनंत-अनादि आवागमन का अर्थ क्या है? मिट-मिट कर बार-बार यह शरीर फिर क्यों इस पृथ्वी पर आता है? मेरे मन को तो यह प्रश्न कई वर्षों तक झकझोरता रहा। अन्त में जब १९५१ में मैं फिलिस्तीन गया तो अकस्मात् एक लोकोक्ति में ही मुझे मेरे प्रश्न का उत्तर मिल गया। लोकोक्ति का अर्थ था : 'ईश्वर ने जिस साँचे में पृथ्वी बनायी, उसी में मनुष्य का शरीर। दोनों का एक

ही गुण-धर्म है, अपने को दूसरों के लिए देना, देते रहना।' बहुत साधारण प्रतीत होने वाली, किन्तु गूढ़ अर्थों से भरी, उस लोकोक्ति ने मेरे जीवन के सबसे कठिन प्रश्न का उत्तर दे दिया। मैं जान गया कि जीवन की सार्थकता का माप-दण्ड यही है कि अपने भाग में आये जीवन-अंश को कोई कितना निभाता है और कितना देता है। मेरा विश्वास उस ईश्वर में है जो समस्त मानवों के मध्य मानवरूप में स्वयं को प्रगट करता है, न कि उस ईश्वर में जो सबसे अलग बैठ जगत का संचालन करता है।"

ठीक इसी बात को शॉ ने एक दूसरे रूपक के साथ व्यक्त किया है। उनका कथन है: "जीवन को मैं छोटी सी टिमटिमाती हुई मोमबत्ती नहीं मानता। मेरी दृष्टि में यह एक बड़ी मशाल है, जिसे मैंने एक निश्चित काल के लिए अपने हाथों में लिया है। आने वाली पीढ़ी को यह मशाल सौंपने से पूर्व मैं चाहता हूँ कि यह अच्छी तरह जले, और खूब प्रकाश फैलाए।"

विश्व-कवि रवीन्द्र ने भी इसी भाव को काव्यमय शब्दों में व्यक्त किया है। उनके गीत का अर्थ है:

जीवन के देवता !
मुझे प्रिय है वह जीवन,
जो हो प्रवाहित,
सहस्र-सहस्र रश्मि-धार में।
सम्मोहकता जिसकी
भरी है वीणा की तार-तार में।

मनुष्य-जीवन को जो एक ही विश्व-मानव रूपी सागर की जुदा-जुदा तरंगों के समान देखेगा, वही जीवन का अर्थ समझेगा।

अपने जीवन को विश्व-जीवन का अंग और अपने व्यक्तित्व को विश्व-मानव का अंश अनुभव करके ही हम जीवन के विराट रूप को देख सकते हैं।

यह दृष्टि तर्क-वितर्क अथवा शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त नहीं होती। अध्ययन से हम केवल दूसरों की सम्मतियों का ज्ञान पा सकते हैं। दूसरों से पाया ज्ञान हमारे ज्ञानकोष में वृद्धि भले ही कर दे, हमारी दृष्टि में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं ला सकता। तथ्य यह है कि सचाई तक हम दूसरों के ज्ञान को कण्ठाग्र करके नहीं बल्कि अपने अंतःकरण के अनुभव से ही पहुँच सकते हैं।

बाह्य उपकरणों से उपलब्ध ज्ञान की सीमा है, क्योंकि उपकरण स्वयं बहुत सीमित होते हैं। अनुभव की सीमा नहीं है। इसीलिए सचाई ज्ञान से नहीं जानी जाती, अनुभव की जाती है। आत्मा का ज्ञान नहीं होता, आत्मा की अनुभूति होती है। तभी आत्म-ज्ञान से आत्मानुभव का महत्व बहुत अधिक है।

जीवन का अर्थ भी अनुभवगम्य है, ज्ञानगम्य नहीं।

आत्मसाक्षात्कार 'न मेधया न बहुना श्रुतेन'—न मेधा से और न ही बहुश्रुत होने से होता है। यह अपने व्यवहार से,

अपनी अनुभूति से और अपने ही कार्यों से होता है।

पानी में उतरे बिना या अपने को अर्पित किये बिना तैरना नहीं आता, उसी तरह जीवन में अपने को पूर्णतः समर्पित किये बिना जीना नहीं आता; जीवन में प्रवाह नहीं आता और जीवन का अर्थ भी समझ में नहीं आ सकता।

जो यह समर्पण करता है—वही वास्तव में उसे चाहता है, उसको ही वह चाहता है। और जिसे वह चाहे वही उसे पा सकता है।

इसलिए पूर्णतया समर्पण करने वाला ही जीवन का अर्थ समझता है।

२.

'शत हस्तं समाहर, सहस्रहस्तसंकिर'

सौ हाथों से बटोर, हजार हाथों से बांट

'शत हस्तं समाहर, सहस्रहस्तसंकिर'—वेद का यह वाक्य बटोरने के साथ बांटने का भी आदेश देता है।

बांटने के लिए जो बटोरता है उसे ही बटोरने का अधिकार है।

जीवन का व्यापार इस बांटने-बटोरने के बीच ही चल रहा है।

जीवन देने में ही जीवन की कृतार्थता है।

यह बात किसी को सिखाने की जरूरत नहीं पड़ती। कुदरत ने स्वभाव से ही जीव-मात्र को दानी बनाया है। कोई जीव ऐसा नहीं जो माता-पिता बनकर अपने तन-मन का दान न करता हो।

माता अपने को मिटाकर माँ बनती है, पिता अपने को भूलकर पिता बनता है।

यह बात मनुष्य तक ही सीमित नहीं, पशु-संसार और वनस्पति-जगत में भी आत्मज के लिए जनक-जननी जीवन त्याग करते हैं।

अपने प्रिय के लिए प्राण परित्याग करने में जीवमात्र को सन्तोष मिलता है। यह प्रकृति का धर्म है।

मनुष्य को केवल अपनी संतान से ही प्रेम नहीं होता। उसके प्रेम का क्षेत्र ज्ञान-वृद्धि के साथ बढ़ता भी जाता है। और एक दिन वह भी आता है जब जीवमात्र ही नहीं, वृक्ष, फूल, पत्ते, सभी के प्रति उसके हृदय में प्रेम का भाव सहज ही पैदा हो जाता है।

जगत की सभी प्राणवान एवं निष्प्राण प्रतीत होने वाली वस्तुओं से उसे स्नेह हो जाता है।

उसके हृदय में जैसी पुलक अपने बच्चे के छोटे गुदगुदे हाथ-पैर देखकर होती है वैसी ही एक वृक्ष की नयी कोंपलें और पशु-मात्र के नवजात शिशुओं को देखकर होने लगती है।

बकरी के छोटे-से मैमने को गोद में उठाकर उसे वही आनन्द आता है जो अपने शिशु को गोद में लेने पर आता था।

तब वह हर घड़ी प्रेम-विभोर रहता है, क्योंकि उसे अपने चारों ओर नयी-नयी प्राण-कलिकायें फूटती दिखाई देती रहती हैं।

वह देखता है बूढ़े वृक्ष पृथ्वी से जितना रस लेते हैं सब नये पत्तों को दे देते हैं और सूख-सूख कर जीर्ण हो जाते हैं। बूढ़ी बकरी वृक्ष के सूखे पत्ते खाकर अपने बच्चों को दूध पिलाती है और ऐसा आत्मदान करते हुए उसकी सूखी हड्डियां

हर्ष-रोमांचित हो उठती हैं।

वैसा ही रोमांच हो जाता है उस मनुष्य के हृदय में जो प्राणीमात्र से प्रेम करता है।

जीवन की सार्थकता इस प्रेमपूर्ण व्यवहार में ही है। व्यावहारिक भाषा में इसे परोपकार या परहित कहा जाता है। किन्तु लेखक की दृष्टि में यह शब्द भ्रमोत्पादक है। परोपकार 'पर' और 'उपकार' दो शब्दों से बना है। 'पर' का अर्थ है अपने से विभिन्न। किसी परकीय व्यक्ति का हित करना ही परोपकार कहलाता है।

असली उपकार तो तभी होता है जब परकीय की भावना ही नष्ट हो जाय। आत्मभाव बने बिना हित-सम्पादन नहीं हो सकता। उपकार करने से पहले उपकारी के मन में आत्मीयता जाग्रत हो जाना अनिवार्य है।

सच्चा उपकार भी तभी होगा जब उपकार करने वाला केवल आत्म-परितोष की भावना से उपकार करेगा, दूसरों के सुख के लिए नहीं। अपने आनन्द के लिए ही यह महादान किया जाता है।

परमात्मा ने इस प्राण-दान में, मृत्यु-कष्ट में, भी आनन्द की प्रेरणा भरदी है।

इसीलिए जीवन इस मृत्यु में ही सार्थकता अनुभव करता है।

दूसरों के लिए उपयोगी बनने में ही मनुष्य अपने जीवन

की उपयोगिता मानता है। और जिस परिमाण में हम दूसरों के लिए उपयोगी होते हैं उसी परिमाण में अपने जीवन को उत्कृष्ट मानते हैं।

हमारे सम्पूर्ण सामाजिक संघर्षों के मूल में भी स्वार्थ-वृत्ति नहीं होती। सामाजिक संगठनों द्वारा भी हम एक दूसरे की सहायता के निमित्त अधिकाधिक अवसर प्राप्त करने का यत्न करते हैं।

इन यत्नों में ही हमारे जीवन के आनन्द की अनुभूति व्यक्त होती है।

जीवन-दान में ही जीवन की सार्थकता है, इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि मनुष्य अपनी समृद्धि, अपने विकास एवं उत्कर्ष के प्रति उदासीन रहे।

दान करने से पूर्व दान-योग्य धन का संचय आवश्यक है, ठीक उसी तरह जैसे ज्ञान देने से पूर्व ज्ञान-संचय और त्राण देने से पूर्व बल-संचय।

जो जितना समर्थ होगा उतना ही देगा, इसलिए अधिक देने के लिए अधिक समर्थ होना होगा।

तभी दान देना जितना महत्वपूर्ण है उतना ही दान देने योग्य समर्थ बनना भी है। संचय करते हुए यह ध्यान रखना होगा कि संचय के लिए संचय न किया जाय बल्कि दान के लिए किया जाय। प्राय: ऐसा होता है कि धनिक श्रेणी के लोग जब संचय करते हैं तो केवल अधिकाधिक संचय में आनन्द लेना शुरू कर देते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि यह संचय किस निमित्त किया जा रहा है।

यह निमित्त केवल दान करना ही होना चाहिए। दान की भावना से जो संचय किया जायगा, उससे जीवन में संतोष और आनन्द मिलेगा। आनन्द संचय में नहीं, दान में है।

ज्ञानी लोग जब ज्ञान संचय करते हैं तो ज्ञान-बुद्धि में ही आनन्द अनुभव करना प्रारम्भ कर देते हैं। तब व्यर्थ के वाद-विवाद और पांडित्य-प्रदर्शन में बुद्धि का अपव्यय होता है। यह दिमागी कसरत जीवन में किसी काम नहीं आती, केवल बौद्धिक विलास बनकर रह जाती है। बुद्धि-बल का यह संचय उसी तरह व्यर्थ है जिस तरह उस पहलवान का शारीरिक बल-संचय जो अखाड़े में कुश्ती करने के बाद बल का कोई अन्य उपयोग न करे।

यही बात प्रत्येक क्षेत्र में लागू होती है। सामर्थ्य होने की उपयोगिता तभी है जब उस सामर्थ्य से समाज का लाभ हो।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही सत्य चरितार्थ होता है। विश्व की महती शक्ति पर आस्था रखने से हृदय में जो आध्यात्मिक शक्ति का संग्रह किया जाता है उसका व्यय यदि 'बहुजन-हिताय' न हो तो वह केवल आत्म-रति बनकर रह जाता है। आत्मिक शक्ति के संग्रहार्थ अन्य अनेक साधन भी हैं। एकान्त साधना एवं आत्मचिन्तन से भी आत्म-शक्ति का विकास एवं संवर्धन होता है; मनुष्य में नवीन उत्साह के स्रोत प्रस्फुटित होते हैं, और अपने आत्मिक स्वरूप से साक्षात् करके मनुष्य को अपनी ही अलक्षित शक्तियों से परिचय मिलता है।

किन्तु यदि आत्मिक-शक्ति प्राप्त करने की साधना केवल अपने ही उत्कर्ष और अपने ही व्यक्ति-गत उद्देश्य के आनन्द से की गई है और उसका प्रयोग अखण्ड आत्मानन्द प्राप्त करके सदैव आत्मरत रहना ही रहा है तो हम इसे केवल आत्मिक विलास कहेंगे। यह विलास मनुष्य के अन्य विलासों से किसी भांति उत्कृष्ट अवश्य है, किन्तु विलास होने से यह अपनी उपयोगिता खो देता है और निष्प्रयोजन रह जाता है।

कुछ लोग हैं जो दैहिक विलास में ही जीवन की इति-श्री मानते हैं। कुछ हैं जो बौद्धिक विलास में जीवन की कृतार्थता समझते हैं और कुछ हैं जिनकी श्रद्धा का आधार आत्मिक क्षेत्र में विलास करना है। इस विलास को ही वे जीवन की सबसे श्रेष्ठ साधना मानते हैं। लेखक इन सब विलासों को जीवन का अङ्ग अवश्य मानता है, किन्तु विलास तक ही वह जीवन की उपयोगिता का अन्त नहीं मानता। उसके विचार में जीवन की सार्थकता इस विलास को भी उपयोगी बनाने में है। अतः आध्यात्मिक क्षेत्र में परम-सिद्धि-प्राप्त योगी को भी जीवन की सार्थकता सिद्ध करने के लिए समाज के लिए उपयोगी बनना होगा। जो सिद्ध पुरुष आत्मा-नन्द प्राप्त कर हिमालय की गुफाओं में समाधिस्थ रहते हैं वे भी उसी तरह विलासी होने के दोषी हैं जैसे प्रचुर धन एकत्रित करने के बाद केवल भोग में आनन्द लेने वाले लक्षाधिपति।

धनोपार्जन हेय नहीं। वैदिक काल के ऋषि भी "तेनेध्य-स्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिः" आदि मन्त्रों से प्रजा एवं पशु-सम्पत्ति के संवर्धन की प्रार्थनाएं किया करते

थे। किन्तु इन लोकसंग्रह की समस्त चेष्टाओं का उद्देश्य परमार्थ का आनन्द प्राप्त करना ही होता था।

जीवन के इस अर्थ को वेद ने सूत्ररूप से बहुत ही काव्यपूर्ण भाषा में दिया है :—

'शत हस्तं समाहर, सहस्रहस्तसंकिर'

'सौ हाथों से बटोर, हजार हाथों से बांट।'

सौ हाथों से बटोर कर हजार हाथों से बाँटने वाले के पास संचित धन तो रह ही नहीं सकता।

प्रश्न यह है कि सौ हाथों से अर्जित करने वाले के पास हजार हाथों से वितरित करने योग्य धन आयेगा हो कैसे ?

जो व्यक्ति इस प्रश्न का ठीक उत्तर जानते हैं वही जीवन शक्ति को समझते हैं। मनुष्य जीवन की यही दिव्यता है कि वह जितना प्राप्त करता है उसमें अपने अन्तर की जीवन-शक्ति से हजार गुणा संवर्धन कर सकता है।

गौ के अन्तर में यह जीवन-शक्ति है कि वह घास को दूध में बदल देती है। वह जितना पाती है उससे सहस्रगुणा देती है। मनुष्य के मस्तिष्क में यह शक्ति है कि वह उपलब्ध वस्तु की मात्रा-राशि को हजार गुणा बढ़ा दे और बढ़ाकर उसे बांट दे। जीवन का यही सच्चा अर्थ है।
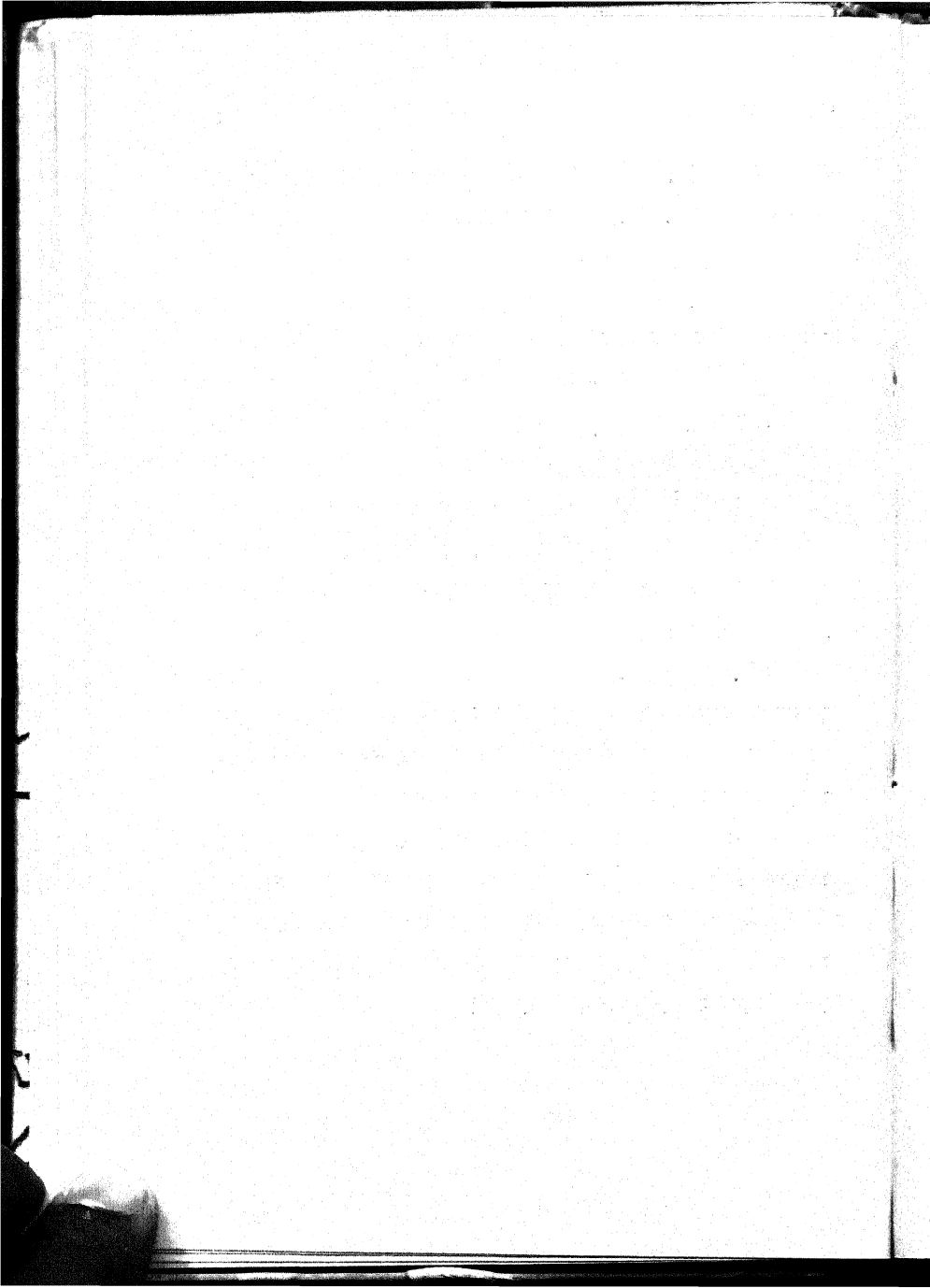
३.

यो वै भूमा तत्सुखम्

विस्तार में ही सुख है

अपने को खोकर ही हम दुनिया में मिल सकते हैं, विस्तीर्ण क्षेत्र में जा सकते हैं।

विस्तार में ही सुख है। सुख की यह एक आवश्यक शर्त है।

दूसरे शब्दों में हम कह देते हैं 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है'।

कोई भी जीवन अपने आप में सिमट कर नहीं रह सकता। हमारी हर सांस विश्व के उस श्वास-निःश्वास से मिली हुई है जो सूर्य-चन्द्र के लोक से भी ऊपर और समुद्र के अतल तल से भी नीचे सब जगह एक ही गति से चल रहा है।

तभी हमारी प्रत्येक चेष्टा से, चाहे वह चेतन मन द्वारा हो या अवचेतन मन द्वारा, दूर-पास की दुनिया प्रभावित होती है। इसी तरह दुनिया की प्रत्येक चेष्टा, चाहे वह भूमण्डल के किसी भी भूमि-भाग में हुई हो, हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित

करती है। सच तो यह है कि यदि हम दुनिया की कड़ी के अंग नहीं तो हम कुछ भी नहीं।

हमारे व्यक्तित्व का विकास इस कड़ी के अंग होने के कारण ही से होता है।

इस कड़ी को मजबूत करने के लिए हमें और समाज को परस्पर एक दूसरे की शक्ति में वृद्धि करने को उद्यत रहना होता है।

हम उस कड़ी के जिस भाग में बँधे होते हैं उसके आस-पास के क्षेत्र को अपना समाज कह देते हैं। यह समाज हमारे व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्रदान करता है। अतएव प्रतिदान स्वरूप हमारा भी कर्तव्य हो जाता है कि हम उसी सूत्र में बंधी अन्य कड़ियों को समर्थ होने का अवसर दें, अर्थात् ऐसे कार्य करें जो हमारे आस-पास के लोगों के विकास में सहायक हों।

इस कर्तव्य के प्रति उपेक्षित रहने से हम कर्तव्यच्युत होंगे। यह समझना कि हम जिनके सम्पर्क में नहीं हैं उन पर हमारे कार्यों का प्रभाव नहीं पड़ता, भारी भूल है। समाज अपने अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के चरित्र से प्रभावित होता है। जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व जितना महान होता है, उसके कार्यों का प्रभाव भी उतना ही व्यापक होगा। व्यक्ति के शुभ या अशुभ कर्म खेत में पड़े बीज की तरह अंकुरित होते और विकसित होते हैं। इसलिए व्यक्ति के साधारण कार्यों का

परिणाम भी सामाजिक क्षेत्र में अत्यन्त भयंकर हो सकता है। इस परिणाम की सम्भावना को देखते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपने छोटे-छोटे कार्यों में भी सावधान रहना चाहिये। जिस समाज में हम रहते हैं उसके नैतिक आदर्शों के प्रति आस्था रखना हमारा पहला कर्तव्य है।

कोई भी व्यक्ति अपने तक सीमित नहीं है। अपने स्वार्थों और अपनी ही मान्यताओं में बंधा रहने वाला व्यक्ति अपनी प्रगति में स्वयं बाधक बन जाता है। वह अपने अहं की परिधि में खुद गिरफ्तार रहता है, गुलाम रहता है। जो स्वयं ही मुक्त नहीं है वह संसार को कष्टों से मुक्ति क्या देगा ? कल्याण क्या कर सकेगा ?

अपने संकुचित स्वार्थपाश से मुक्त होकर ही व्यक्ति सार्थक जीवन यापन कर सकता है, क्योंकि मुक्त व्यक्ति दूसरों में रुचि ले सकता है। जो आदमी अपनी ही समस्याओं में उलझा हुआ है वह दूसरे की समस्याओं का समाधान क्या करेगा ? दूसरों में रुचि लेना, उनकी समस्याओं को पूरे ध्यान से सुनना और उन्हें उतनी ही सहानुभूति से हल करना जितनी अनुभूति से हम अपनी कठिनाइयों का हल करते हैं, हमारा सामाजिक कर्तव्य है।

इस कर्तव्य-पूर्ति से व्यक्ति को सच्चा सन्तोष मिलता है। यह सन्तोष केवल आत्म-सुख को लक्ष्य में रखकर किये गये भोग से नहीं मिलता। भोग का आनन्द क्षणिक होता है। कर्तव्य-पूर्ति से प्राप्त आनन्द तथा दूसरे को आनन्द देकर मिलने वाला आनन्द ही स्थायी सन्तोष का कारण बनता है।

सेवा का यह कार्य तभी सम्भव हो सकता है जब हम इसे केवल कर्तव्य-भाव से नहीं अपितु प्रेम-भाव से करें। तब सेवा, सेवा नहीं रहती। माता पुत्र की सेवा नहीं करती, उससे प्रेम करती है, प्रेम ही सेवा में बदल जाता है।

प्रेम का दूसरा नाम आत्मीयता है। दूसरे में आत्मभाव स्थिर करना, दूसरों को अपना-सा मानना ही प्रेम है। इस प्रेम का दायरा बढ़ता जाता है। जब हम सम्पूर्ण विश्व को अपना मान लेते हैं, तब हम सारी दुनिया से प्रेम करने लगते हैं। यह प्रेम हमें सम्पूर्ण विश्व के प्रति कल्याण-भावना जागृत करने में सहायता देता है। सम्पूर्ण विश्व को आत्मवत् देखना ही वह दृष्टि है जिससे महापुरुष अपने देश और समाज से भी ऊपर उठकर विश्व-मानव बनते हैं।

शास्त्रों ने कहा है—

'आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति सः 'पश्यति'

'जो सब प्राणियों को आत्मवत् देखता है वही सच्चे अर्थों में देखता है।' उसकी दृष्टि में स्वार्थ की मलिनता नहीं आती, उसके लिए अपने-पराये के भेद मिट जाते हैं। उसकी आँख सम्पूर्ण विश्व में अपने को और अपने में सम्पूर्ण विश्व को देखने की क्षमता रखती है। यह दृष्टि मनुष्य के हृदय में विचित्र अनुभूति जागृत कर देती है। यही अनुभव है जो जीवन का सबसे बड़ा अनुभव है। विश्वात्मा में अन्तरात्मा का अनुभव और अन्तरात्मा में विश्वात्मा का स्पन्दन अनुभव करने से बड़ा तथा रोमांचक अनुभव और कोई नहीं।

इस अनुभव का एक-एक क्षण भी कल्पनातीत आनन्द देता है। यह अनुभव ऐसा भी नहीं है जो कि आज मिलकर कल जाता रहे। यह हमारे अन्दर ऐसी मन:स्थिति पैदा कर देता है कि हम संसार की सब विषमताओं में भी एकरस रह सकते हैं और प्रतीत होने वाले कष्टों के बीच भी सुखी और शांत बने रह सकते हैं।

सबसे आत्मभाव अनुभव करने पर हमारे अन्दर की भेद-बुद्धि और तुलनात्मक बुद्धि का अन्त हो जाता है। प्रायः तुलना में ही हम दुखी होते हैं। तोलमाप ही दुःखों का कारण होता है। दूसरों को अपने से अधिक धनवान या सम्पन्न देखकर हम स्वयं को दरिद्र मानना शुरू कर देते हैं। हमारा मन हर समय अपने से दूसरों की तुलना किया करता है। और दूसरे के दुःख में भी सुख की कल्पना करके हम दुखी हुआ करते हैं।

जो दूसरे के सुख में सुखी होगा, और दुःख में संवेदनशील रहेगा, वह सदा सुखी रहेगा, क्योंकि धूप और हवा की तरह सुख भी सारे संसार में बिखरा हुआ है। भगवान ने अपने आनन्द के ताने-बाने से जगत का सृजन किया है। हम भी उसके ही रूप हैं और उसके ही अंश हैं। दूसरों में अपना रूप देखने और अपने में दूसरों के साथ सुख-दुःख अनुभव करने से ही हम अपने विराट रूप को देखते हैं, उसका साक्षात् अनुभव करते हैं।

जो दूसरों में अपना रूप देखता है वही मित्र बना सकता है।

अपने को भूलकर, मिटाकर ही हम अपना विस्तार करते हैं।

विश्व-भर के साथ मित्रता के लिए आत्मरति नहीं आत्मविस्मृति की आवश्यकता होती है। अपने स्वार्थों को भूलकर ही मनुष्य दूसरों का कल्याण करने में सक्षम होता है। जिसे अपने से ही अवकाश नहीं वह न किसी में रुचि लेता है, न किसी के काम आता है। समाज के लिए उपयोगिता नष्ट हो जाती है।

मनुष्य के जीवन की सार्थकता का माप उसके सच्चे मित्रों की संख्या से लगाया जा सकता है, क्योंकि मित्र वही बना सकता है जो अपने को दूसरों के लिए मिटा सकता है। मिटाने का अर्थ है कि वह अपने को भूलकर दूसरे को स्नेह, सहानुभूति दे सकता है, आदर दे सकता है। मनुष्य यदि अपने को भूलना याद रख ले तो बाकी सब याद रहता है। जो अपने को भूल जाता है उसे सब याद रखते हैं।

मित्र बनाना और मैत्री को स्थिर रखना बड़े यत्न-साध्य कार्य हैं।

जीवन की इस अमरबेल को हृदय-रस से सींचना पड़ता है। जो हृदय से देने वाला नहीं होगा वह सच्चे मित्र नहीं बना सकेगा। वह अपने प्रतिस्पर्धी का हार्दिक अभिनन्दन नहीं कर सकेगा; अपने विद्वेषी को भी प्रेम नहीं कर सकेगा।

प्रेम केवल मधुर मुस्कान या मीठे शब्दों से नहीं दिया

जाता। सरल व्यवहार, समुचित आदर और तीव्र सहानुभूति के भाव प्रेम के समकक्ष अवश्य रहते हैं।

आदर में भी बनावटीपन नहीं होना चाहिये। सच्चे हृदय से साथी के गुणों का आदर करते ही हम दूसरे को मित्र बना सकते हैं। किन्तु यह अभिव्यक्ति बहुत सहज स्वाभाविक होनी चाहिये। अन्यथा उस प्रशस्ति में व्यंग का तीखापन आजायगा।

दूसरे के प्रति आदर-भाव व्यक्त करके हम केवल अपनी सज्जनता प्रकट नहीं करते, बल्कि दूसरे व्यक्तित्व के समुचित विकास में भी सहायक बनते हैं। सच्ची प्रशंसा दूसरे को क्षणिक सुख ही नहीं देती, उसके व्यक्तित्व को विकास के लिए नयी प्रेरणा देती है। कई बार प्रशंसा का एक ही वाक्य व्यक्ति की जिन्दगी को बदल देता है। अतः आदर का दान जीवन के दानों में महत्व रखता है। आदर देना भी जीवन देने के समान है।

इस दान में कृपणता का कोई अर्थ नहीं। उदारता से अपने साथियों के गुणों की प्रशंसा करना जीवन को समृद्ध बनाना है। अन्य किसी भी दान की अपेक्षा यह दान न्यून नहीं है।

इसे देते हुए इसका ध्यान रखना चाहिये कि हम किसी भी स्वार्थ के कारण तो किसी की प्रशंसा नहीं कर रहे, अथवा आदर का प्रतिफल पाने को ही तो आदर नहीं दे रहे।

प्रतिफल की इच्छा से दिया गया आदर कभी वह सौहार्द

पैदा नहीं करेगा जिससे जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। इस देने से न देना ही अच्छा है।

मित्रता का लक्ष्य केवल मित्रता ही होना चाहिए। जो लोकसंग्रह के लिए मित्र संख्या में वृद्धि करते हैं वे सौदागर हैं, मित्र नहीं। दो सौदागरों की मैत्री सौदे तक ही सीमित रहती है।

हृदय देकर ही हृदय लिया जाता है। मित्रतापूर्ण व्यवहार ही मित्र बनाता है।

दान-परम्परा में समयदान का भी शिरोमणि स्थान है। जीवन की सार्थकता देने में है तो जीवन की असंख्य घड़ियां हमें दूसरों के लिए भेंट में देनी ही पड़ती हैं। देने के लिए जिन वस्तुओं की कल्पना की जा सकती है उनमें अपने समय से अधिक सुन्दर दातव्य वस्तु नहीं मिलेगी।

जब हम स्वेच्छा से किसी को अपना समय देते हैं तो मानों अपना ही एक अंश देते हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार शरत् ने एक बार कहा था : वह उपहार देना व्यर्थ है जिसके साथ हम अपना कोई अंश नहीं देते।

जो बहन अपना समय देकर अपने हाथ से स्वेटर बुनती है और भाई को उपहार में देती है वह अपना ही एक अंश देती है।

जीवन देकर ही जीवन का सुख मिलता है।

अपने को देना—आत्मदान करना—सबसे बड़ा दान है।

अपने को देने के विविध प्रकार हैं। अपनी हस्ती भूलकर दूसरे में अपने को खो देना भी अपने को देना है।

साधारणतया समझा जाता है कि जो दूसरों को रुपया देता है वही सचमुच कुछ देता है। धनिकों के दान का महत्व भी कम नहीं है, पर यदि स्वयं धनिकों से पूछा जाए, तो वे भी स्वीकार करेंगे कि उनके वास्तविक दान दूसरे प्रकार के थे।

सन् १९१८ में जब इंग्लैंड में महामारी फैली, तब धनिकों की एक क्लब के सदस्यों ने पीड़ितों की सहायता करने का निश्चय किया। वे चाहते तो रुपयों का दान देकर अलग बैठ जाते, पर उन्होंने ऐसा न करके अस्पतालों में जाकर रोगियों की सुश्रूषा की और अस्पतालों की सफाई की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ली। बिना थके और रोग की छूत से डरे, वे महीनों इसी प्रकार काम करते रहे।

वे सच्चे अर्थों में दानी बने, क्योंकि उन्होंने रुपयों को नहीं स्वयं अपने को दान में दिया।

अपने को देने का एक रूप है—यथाशक्ति दूसरे का उपकार करना।

प्रायः सभी चिन्तकों ने कहा है "परोपकाराय सतां विभूतयः।" सज्जन मनुष्य का सर्वस्व परोपकार के अर्पण होता है। यही उसके सर्वस्व की सार्थकता होती है।

जीवन के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। परोपकार में ही जीवन की सार्थकता है।

अपने लिए सभी जीते हैं, उपकार भी सब करते हैं। अपने प्रियजनों के लिए सभी अपने स्वार्थों का त्याग करते हैं। किन्तु सभी को प्रिय मानकर उनके लिये स्वार्थ छोड़ कर त्याग करने वाले ही श्रेष्ठ जीवन बिताते हैं।

साधारणतया लोग यही समझते हैं कि किसी स्वार्थ से ही उपकार किया जाता है। वह स्वार्थ अगर आज नहीं पूरा होगा तो कल पूरा होगा। उनका विचार है कि भलाई भी करना एक व्यापार है जिसका प्रतिफल ब्याज समेत बाद में अवश्य मिलता है।

मानव-चरित्र पर ऐसी अनास्था रखना पाप है। मेरी धारणा तो यह है कि मनुष्य स्वभाव से ही बहुत संवेदनशील होता है। प्रत्येक उपकार के मूल में स्वार्थ की कल्पना करना अपने मन की कलुषिमा को प्रकट करना है। मनुष्य इतना कलुष नहीं है। दूसरे का भला करना मानव का स्वभावगत अंग है।

परिस्थितियों-वश कुछ लोग इस स्वभाव से निम्न स्तर पर गिर जाते हैं और कुछ इससे ऊंचा भी उठ जाते हैं।

जो स्वयं अपने स्वभाव से प्रेरित होकर उपकार करते हैं वे मानवीय स्तर पर जीते हैं और जो अपकारी के प्रति उपकार करते हैं वे अतिमानव या देवता बनकर जीते हैं।

महात्मा गांधी देवपुरुष थे। उन्होंने शत्रु के प्रति सदा मित्रता का व्यवहार किया। गांधीजी ने एक स्थान पर लिखा है—शत्रुओं का अन्त करना सर्वथा न्याय-संगत है, किन्तु उन्हें नष्ट करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि उन्हें मित्र बना लिया जाय।

४.

यो यच्छ्रद्धः स एव सः

अपनी महानता पर विश्वास : श्रद्धा

जिसकी जो श्रद्धा हो, वही वह बन जाता है।

श्रद्धा के अनुरूप ही मनुष्य का व्यक्तित्व बनता है। उसका चिन्तन, कार्यकलाप उसके अन्तस् की श्रद्धा के अनुरूप ही बनते हैं।

श्रद्धा का अर्थ विश्व की विराट शक्ति में ही अटूट विश्वास रखना नहीं है बल्कि अपने विराट स्वरूप में भी विश्वास रखना है।

यह श्रद्धा ही मनुष्य जीवन को कर्म की प्रेरणा देती है और कर्मक्षेत्र के संघर्षों में उसे स्थितप्रज्ञ रखती है।

जीवन की सम्पन्नता और सार्थकता मनुष्य की श्रद्धा पर ही निर्भर है। जिन मनुष्यों ने श्रद्धा को जीवन का प्रकाश माना, वे जीवन-संघर्ष में सदैव अजेय बने रहे। अपनी दिव्यता

में विश्वास और दिव्यता की आदि-शक्ति में अडिग श्रद्धा के कारण ही, मनस्वी व्यक्ति अपने अन्तस् से साहस और शक्ति की प्रेरणा पाते रहते हैं।

जो कुछ हम पाते हैं, वह सब अपने जीवन-स्रोत से पाते हैं। शरीर एक खेत के समान है, जिसमें हम कर्म के बीज बोते हैं, और यह शरीर भी काल-रूपी विराट खेत का एक बीज है, अंकुर है। खेत ही बीज को उगाता है, उसे विकास देता है और उसे नष्ट भी वही करता है। यदि हम अन्तर की इस शक्ति को हृदयंगम नहीं करेंगे और अपने जीवन-स्रोत को बाह्य शक्तियों में खोजेंगे तो जीवन कस्तूरी के मृग की भाँति व्यर्थ भटकेगा।

यदि हमने जीवन में श्रद्धा के दीप को संजो रक्खा है तो यह दीप एक दिन सूरज भी बन सकता है जिसके आगे अँधेरा और आँधियाँ कुछ नहीं कर पाएंगी। श्रद्धा की एक क्षीण-सी चिनगारी हमें तुरन्त संतापमुक्त कर देती है। जीवन की समस्त व्याधियों की अमृतोपम औषध यह श्रद्धा बाहर से लाने की वस्तु नहीं है। श्रद्धा हमारे अन्दर है, अन्दर से ही वह उगती और पनपती है तथा जीवन का कल्पवृक्ष बनती है। रवीन्द्र के शब्दों में—"बीन को लेकर क्या करेगा, तेरी तूँबी में तो मात्र एक तार है, उसे ही एक मन से बजाता रह।"

श्रद्धा को तर्क से न पाया जा सकता है, और न जीवन में उसे स्थान दिया जा सकता है। तर्क से किसी बात का निर्णय करने पर, सदा, दोनों पक्षों की ओर, कोई न कोई कारण शेष रह ही जाता है। पर किसी वस्तु में श्रद्धा करने से न केवल वह वस्तु जीवित और शक्तिवान दीखने लगती है, अपितु सारा जीवन एक नयी शक्ति और उमंग से भर जाता है। आन्तरिक शक्ति-स्रोत के दर्शन होते हैं। वह प्रेरणा संसार-भर के दर्शनों के अध्ययन से नहीं आती, जो अपने को किसी एक देवता के प्रति समर्पित कर देने से आती है।

बुद्धिजीवी जब श्रद्धा पर हँसते हैं तो यह भूल जाते हैं कि श्रद्धा तभी उद्भूत होती है जब उसके प्रमाण स्वयमेव उपस्थित होते हैं। श्रद्धा के उद्भव के साथ मन में जिस अदम्य साहस का उदय होता है, वही श्रद्धा की दिव्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इस प्रमाण को तर्क द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसके लिए श्रद्धा का प्रत्यक्ष अनुभव अनिवार्य है। श्रद्धा से ही श्रद्धा को पाया जा सकता है।

जब तक हम श्रद्धा के विषय में केवल तर्क-वितर्क ही करते रहते हैं, तब तक हम सन्देहशील रहते हैं। किन्तु जब हम तर्क बन्द कर श्रद्धा आरम्भ करते हैं, तो सीधे सर्वशक्तिमान की शरण में आ जाते हैं, और उसका साक्षात् करते हैं। श्रद्धापूर्ण समर्पण के बाद हमें अपने अन्दर एक नवीन स्फूर्ति का अनुभव होता है, नवीन दृष्टि प्राप्त होती है और यह प्रतीति सजीव हो उठती है कि हम किसी महती शक्ति के सम्मुख खड़े हैं।

दिव्य जीवन की आस्था लाख अवरोधों में भी अपनी राह बना लेती है। अविश्वास ग्रस्त क्षणों में हमारी अन्तर्दृष्टि जागृत होकर मन के तर्क को निरस्त्र कर देती है और हमारी आत्मा में पुनः आस्था के स्थिर नक्षत्र चमकने लगते हैं।

श्रद्धा मनुष्य को अतुल सामर्थ्य प्रदान करती है। जीवन में कितनी ही बार हमें प्रताड़ित होना पड़ता है। संशय-सन्देह के थपेड़ों से मन अस्थिर हो जाता है। ऐसे विपरीत समय में श्रद्धा ही है जो स्थिर रहकर हमें स्थितप्रज्ञ रखती है। जीवन के सभी उपकरण, जिनमें प्रगति, शुभकर्म, सज्जनता की गणना है, श्रद्धा के अवलम्ब पर ही जीवित हैं। तर्क से श्रद्धा का अस्तित्व सिद्ध करना कठिन भले ही हो, पर अनुभूति के बल पर हम उसे स्वयं देख सकते हैं।

जिस क्षण दुःख एवं दुर्भाग्य के अनिवार्य विधान हमारे आत्मबल की परीक्षा लेते हैं, उसी क्षण से हमारे अन्तःकरण में प्रसुप्त कस्तूरी सुरभित होने लगती है और दृढ़ विश्वास का पोषण पाकर अनन्त प्राणमय हो जाती है, एवं अपनी सुरभि से संसार को सौरभमय बना देती है।

श्रद्धा का यह भी संकेत है कि हम भगवान के न्याय पर पूर्ण आस्था रखें, दुःखों का आघात पड़ते ही ईश्वर के दरबार में न्याय-अन्याय की दुहाई देना शुरू न करें।

न्याय-अन्याय का हिसाब तुम्हारे हाथ में है ही कहाँ ? जो सुख हमें मिलता है, वह क्या किसी न्याय के हिसाब से तराजू से तोल कर मिलता है ?

क्या कई बार ऐसा नहीं होता कि सुख हमें आशा से अधिक मिल गया हो ? ऐसा सुख मिलने पर तो हम कभी दुहाई नहीं देते कि हमें अपने हक से अधिक मिल गया।

ऐसे अवसरों पर तो हम अकस्मात् रूप से प्राप्त सम्पत्ति पर भी पूरा अधिकार कर लेते हैं। न्याय-अन्याय का हिसाब नहीं करते।

सच तो यह है कि सब कुछ हिसाब से नहीं मिलता और सब न्याय्य भी नहीं होता। ईश्वर के न्याय-अन्याय को कौन समझ सकता है ? यहाँ भला-बुरा, न्याय-अन्याय, सुख-दुःख, ग्रहण-त्याग, सब मिला-जुला है और इन्हीं द्वन्द्वों में होकर हमारी प्राण-क्रिया चल रही है।

प्रभु के प्रति श्रद्धा रखने से ही हमें मानवमात्र के प्रति श्रद्धा करने की प्रेरणा मिलती है; और तभी जीवन का गूढ़ अर्थ हमारी समझ में आता है।

मानव-जीवन के प्रति श्रद्धा न हो तो हमें मानव-कल्याण में जीवन अर्पित करने का प्रोत्साहन न मिले। श्रद्धा हमें अर्पण की वह प्रेरणा देती है जो जीवन को सार्थक बनाने में सहायक होती है।

इसके अतिरिक्त श्रद्धा ही हमें समर्पण का बल देती है।

लौकिक जीवन में भी हम श्रद्धा के आधार पर ही हृदय में विश्वास, आशा और उत्साह को जीवित रखते हैं।

जो अल्प-बुद्धि श्रद्धा का संबंध केवल आँखों से ओझल शक्तियों पर विश्वास से लगाते हैं, वे खुद नहीं जानते कि क्या कह रहे हैं। हृदय में आत्मभाव जागृत होने के लिए आत्मज्ञान या आत्म-साक्षात्कार होना उतना आवश्यक नहीं, जितना हृदय में सबके लिए प्रेमभाव जागृत होना।

आत्मज्ञान के लिए जिज्ञासु लोग अन्तर्मुखी होते हैं। उपनिषदों ने कहा है—"अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो" देह के अन्दर एक ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा का निवास है। उसका स्वरूप देखने के लिए योगीजन एकाग्र मन से आत्म-चिन्तन करते हैं। बाह्य संसार से अपनी दृष्टि हटाकर वे अन्तरात्मा के दर्शनार्थ ध्यानस्थ होते हैं।

मन की यह एकाग्रता मनुष्य की विवेक-शक्ति को प्रखर बनाती है, किन्तु कच्चे जिज्ञासुओं पर इसका अहितकर प्रभाव भी पड़ सकता है। वे आत्मरत एवं आत्मकेन्द्रित हो जाते हैं।

आत्मरत व्यक्ति की दृष्टि अपने तक ही सीमित रहती है। अपनी संकीर्णताओं में ही वह अपनी विवेक-बुद्धि को इतना जकड़कर बांध लेता है कि वह ज्योतिपुंज विश्वसूर्य से प्रकाश लेने को भी मुक्त नहीं रहती।

परिणाम यह होता है कि वह अपने ही हृदय के गूढ़ अन्धकार में कैद हो जाता है। ऐसे आत्मरत व्यक्तियों के लिए ही उपनिषदों ने कहा है—"अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते, ततो भूय इह ते ये विद्यायां रताः" अर्थात् "जो अविद्या के उपासक हैं, भौतिक पदार्थों में अनुरक्त हैं, वे अन्धकारमय

लोक में रहते हैं, किन्तु जो केवल विद्या में—आत्मविद्या में—लीन रहते हैं. वे उससे भी प्रगाढ़ अन्धकार में रहते हैं।"

अन्धकारमय इसलिए कि वे बाहर के सम्पर्क से टूट जाते हैं। यह सम्पर्क जीवन के स्वाभाविक विकास के लिए उतना ही आवश्यक है जितना वनस्पति के पुष्पित होने के लिये सूर्य का प्रकाश और प्राणदा पवन का स्पर्श।

आत्मकेन्द्रित व्यक्ति जीवन के संघर्षों का सन्तुलित बुद्धि से सामना करने योग्य भी नहीं रहता। उसकी प्रवृत्तियां उस शतुर्मुर्ग की भांति कायरतापूर्ण हो जाती हैं जो हवा के हल्के से झोंके पर अपनी गरदन बालू के अन्दर छिपा लेता है।

ऐसा आत्मरत व्यक्ति सभी सामाजिक सम्बन्धों से विच्छिन्न हो जाता है। न कोई उसका मित्र रहता है न सहयोगी। उसके जीवन में भयंकर सूनापन छा जाता है।

इसलिये अपने विराट स्वरूप में ही श्रद्धा रखना उचित है।

जगत् की दिव्य शक्तियों पर श्रद्धा रखना भी उतना ही आवश्यक है।

जो जैसी श्रद्धा रखता है वैसा बन जाता है।

जो मनुष्य देवता पर श्रद्धा रखता है वह देवता-स्वरूप बन जाएगा।

जगत की दिव्य शक्तियों पर श्रद्धा रखने वाला स्वयं उन शक्तियों का स्वामी बन जाता है।

श्रद्धायुक्त मनुष्य सब कुछ भगवान् के अर्पण कर देता है।

भगवान् महादानी भी है और महाभिक्षु भी।

वह भिक्षु भिक्षापात्र लेकर प्रसन्न-वदन प्रतिदिन तुम्हारे द्वार पर आता है और लौट जाता है।

संसार को तुम इतना देते हो। आज से भिक्षुक को भी अपने अन्दर की निधि से एक मुष्टि भिक्षा देने का मंगल मुहूर्त कर दो।

जो सब कुछ देता है वही सब कुछ लेने द्वार पर आता है। जीवन के यज्ञावशेष की आहुति देना हमारे जीवन का लक्ष्य है।

भगवान की झोली में द्रव्यादि देने का कुछ अर्थ नहीं, उसमें तुम अपने को ही दे सकते हो; अपनी आत्मा का समर्पण कर सकते हो। वह महाभिक्षु है। हम से हमें ही चाहता है। उन द्रव्यों के दान से वह संतुष्ट नहीं होता जिन पर हमारा अधिकार नहीं है।

अपने को हम उसी के हाथ दे सकते हैं जो हमें प्रिय हो।

हमारी आत्मा जिसके सौन्दर्य को स्पर्श कर सके उसी के हाथ अपना सब निछावर कर देते हैं।

विश्वात्मा के अनुपम सौन्दर्य का स्पर्श हमें अनुप्राणित करता है। हम उस से एकात्मता अनुभव करते हैं और यह एकात्मता हमें हमारे विशद स्वरूप की अनुभूति कराती है।

इस अनुभूति के बिना मनुष्य-जीवन का विकास नहीं हो सकता। और स्वयं विकसित हुए बिना कोई जीवन किसी के विकास में उपयोगी नहीं बन सकता।

जो मनुष्य विश्व-सौन्दर्य के साथ एकाकार नहीं हुआ उसने जीवन का अर्थ नहीं जाना। उसके लिए जीवन निरुपयोगी, भार-सदृश बना रहता है

प्रकृति अपने सौन्दर्य का अमित कोष उन्मुक्त रूप से लुटाती रहती है, हम ही अपने द्वार बन्द रखते हैं। प्रकृति के इस अनुराग भरे आह्वान को हम समझ सकें तो हमें प्रत्येक वृक्ष, शाखा, फूल और पत्ते-पत्ते से अपने नाम की पुकार सुनाई देगी। हमें लगेगा जैसे ये सब हम से बातें करने को आतुर हैं।

प्रकृति के इस अनुराग भरे सौन्दर्य की गहराई में कई गूढ़ अर्थ छिपे हैं। उनमें से एक यह भी है कि यह समस्त सुषमा नपे-तुले नियमों से बँधी है। प्रकृति के ये नियम मानों हमें संकेत देते हैं कि किस प्रकार हम भी अपने जीवन को नियमों के सूत्र में पिरोकर सुन्दर बना सकते हैं।

इस सौन्दर्य में आनन्द का अमित स्रोत भरा है; इस आनन्द के भागीदार बनकर हम जीवन को नया अर्थ दे सकते हैं। प्रतिदिन प्रातः यदि हम सुनहरी किरणों के साथ उदय होते सूर्य का, पूर्वदिशा के मेघ-खण्डों को अनुराग-रक्त से रंगती हुई उषा की अरुणिमा का, और ओस-कणों से स्नान करती कलिकाओं का सौन्दर्य देखें तो हमारी आँखों में भी उषा का स्वर्णिम प्रकाश भर जाएगा। हम यदि वृक्ष की छोटी-छोटी शाखाओं के अग्र भाग पर फूटते नन्हें-नन्हें पत्तों का प्यार से स्पर्श करें तो हमारे हृदय में भी आनन्द का अमित स्रोत उमड़ पड़े।

विश्व के मौन जगत से एकात्म होना तभी सम्भव है यदि हम मौन सौन्दर्य में मौन होकर रमण करें।

यह मौन केवल वाणी का नहीं, चित्त का भी होना चाहिए। चित्त में निर्दोष शान्ति न होगी तो हम एकान्त में भी अशान्त रहेंगे।

एकान्त पाने के लिए घर छोड़कर किसी पर्वत की चोटी पर या नगर से दूर नदी के किनारे नहीं जाना होगा। हाँ, उन स्थानों पर भी हम एकान्त पा सकते हैं, पर वहाँ जाना सदा संभव नहीं, और यदि बिल्कुल सम्भव नहीं, तो यही लाभ हम अपने घर की छत पर या शहर के बाग में प्राप्त कर सकते हैं। मेरे एक मित्र ने समुद्रतटों और सुन्दर उद्यानों के चित्रों का अलबम बना रखा है जिसे वह एकान्त के क्षणों में पलटा करते हैं।

एकान्त अपने कमरे में भी मिल सकता है। मेरी एक परिचित महिला अपने अन्धेरे कमरे में केवल मोमबत्तियों के प्रकाश में बैठकर एकान्त का रस ले लेती है। उसका कहना है कि निबिड़ अन्धकारमय कमरे में मोमबत्ती का प्रकाश विचित्र स्फूर्ति पैदा करता है। ऐसा रोमांचकारी प्रसंग संसार में अन्य नहीं है। संगीत से भी हम एकान्त को सुखद बना सकते हैं। एकान्त के लिये निर्जन वनों या अंधेरे गिरि-गह्वरों में जाने की आवश्यकता नहीं।

कुछ लोग एकान्त की खोज में समुद्रतट, पहाड़ों या वन और निर्जन स्थानों में रहने लगते हैं। पर यह मूर्खता का

परिचायक है। वस्तुतः शान्तिपूर्ण विचारों और एकाग्र-साधना से चित्त को जो शांति प्राप्त होती है, वह किसी निर्जन वास में नहीं मिल सकती। हम जब चाहें मन के एकान्त गृह में प्रवेश कर सकते हैं। इससे शान्ति मिलती है और आत्मिक विकास होता है। केवल मानसिक दृष्टिकोण बदलने से भी एकान्त मिल जाता है।

जीवन के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में हम एकान्त पा सकते हैं। इसके लिए अपना मानसिक दृष्टिकोण बदलने की ही आवश्यकता होगी। इस एकान्त में मनुष्य को जीवन के नये अर्थों का अनुभव होता है और इस एकान्त-सेवन के बाद पूर्ण विकसित मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बहुजन-हिताय कार्य करने में सफलता पाता है। उसके सौन्दर्य से आत्मा में नयी स्फूर्ति आती है। उसके सौन्दर्य की सराहना करो।

विश्व-सौन्दर्य के प्रति अनुराग, विश्वात्मा की आराधना का ही दूसरा रूप है। हम इस सौन्दर्य के प्रति जितना अनुरक्त होते हैं, उतना ही हम उस महान् शक्ति के निकट आते हैं जिसके हम एक अंग हैं और उसके निकट आकर ही हम उसकी इच्छा से उसका प्रिय कार्य करते हैं।

यदि हमारे जीवन से अपने स्रष्टा के कार्य का विस्तार न हो तो हमारे जीवन का कुछ भी अर्थ नहीं होगा।

प्रभु-प्रार्थना द्वारा हम उस दिव्य-शक्ति का आह्वान करते हैं जो हमें समर्थ ही नहीं बनाती बल्कि अपनी सर्वश्रेष्ठ सम्पदा को जगत के अर्थ समर्पित कर देने के योग्य बनाती है। प्रभु हमारे माध्यम से ही अपनी सृष्टि का विस्तार करता है। हम उसकी योजना को कार्यान्वित करने के साधन-मात्र हैं।

महर्षि दयानन्द ने जीवन के अन्तिम क्षण में यही कहते हुए प्राण विसर्जित किये थे—'तेरी इच्छा पूर्ण हो प्रभु।'

प्रार्थना का अर्थ याचना नहीं है। अपने अधिकार से अधिक मांगना, चाहे वह प्रभु से हो, मांगना ही अनीतिपूर्ण कार्य है।

प्रार्थना का अभिप्राय अपनी श्रद्धा को बल देना और विश्व की दिव्य-शक्तियों के लिए अपने हृदय का द्वार खोलना है।

प्रार्थना के ढंग और माध्यम भिन्न हो सकते हैं, किन्तु फल सब का एक ही है। प्रार्थना करने की विधियाँ भी सहस्रों हैं, भिन्न-भिन्न हैं।

मेरे एक मित्र मोटर चलाते समय प्रार्थना करते हैं। उनका विश्वास है कि उस समय उन्हें सद्जीवन की प्रेरणा मिलती

है। विमान-चालक उस समय प्रार्थना करता है जब उसका वायुयान पृथ्वी और आकाश के बीच झूलता है। एक और आदमी को मैं जानता हूँ जो अपने विचारों को टाइप करके ईश्वर से प्रार्थना करता है। उसका कहना है कि इससे उसे बड़ी शांति मिलती है।

हम यदि प्रार्थना के बाद अपने को पूर्ण समर्पित अनुभव करते हों तो प्रार्थना सफल समझनी चाहिए। प्रार्थना की निश्चित और परम्परागत विधियों में आस्था रखना महत्व-पूर्ण नहीं है। किसी भी विधि से प्रार्थना पूर्ण हो सकती है।

यह भी ज़रूरी नहीं कि हमारी प्रार्थनाएँ शब्दों के माध्यम से ही व्यक्त हों। प्रसिद्ध उपन्यास लेखिका पर्ल बक का कहना है कि उन्होंने कभी शब्दों द्वारा प्रार्थना नहीं की, पर सदा उन्हें अपनी प्रार्थनाओं का उत्तर मिला। जब हम सौन्दर्य, अच्छाई या सद्गुणों की प्रशंसा करते हैं, तो भी इस प्रकार उस विराट शक्ति के सम्मुख झुककर अपने को दृढ़ बनाते हैं।

जीवन सार्थक बनाने के लिए हमारी प्रभु से यह प्रार्थना होनी चाहिए :—

'हे प्रभु, मुझे अपनी शाँति का साधन बनने दो। जहां घृणा है वहां मैं प्रेम के बीज बोऊँ, जहां भ्रम-विभ्रम का अन्धकार है वहाँ श्रद्धा का प्रकाश लाऊँ, जहाँ दुःख है वहाँ मेरे द्वारा सुख पहुँचे, और जहाँ निराशा है वहाँ मैं आशा का सन्देश-दूत बनूँ। मैं दूसरों से सान्त्वना की भिक्षा न मांगूँ बल्कि सब को सान्त्वना प्रदान करने का माध्यम बनूँ। यह आशा न करूँ कि दूसरे मुझे समझें, मैं ही उन्हें समझूँ; यह आशा न करूँ

कि मुझसे दूसरे प्रेम करें, मैं ही स्वयं सबसे प्रेम करूँ, क्योंकि जब हम दूसरों को देते हैं तभी पाते हैं। जब क्षमा करते हैं तो क्षमा पाते हैं और जब हम मृत्यु की शरण जाते हैं तो एक नव-जीवन प्राप्त करते हैं।'

प्रभु से अपने लिए कुछ न मांगकर केवल जगत के कल्याण के लिए सद्बुद्धि और कार्य-शक्ति मांगना ही सर्वश्रेष्ठ प्रार्थना है। तभी प्रभु हमारे जीवन को मानव-कल्याण के लिए समर्थ बनाकर सार्थक बनाता है।

यह सामर्थ्य हमें तभी प्राप्त होगा जब हम अपने पर विश्वास करेंगे।

जब हम अपनी प्रार्थना केवल कष्ट-निवारण की याचना या स्वार्थ-सिद्धि के लिए करते हैं तो इस प्रार्थना को प्रार्थना नहीं कह सकते।

प्रार्थना का अर्थ माँगना नहीं बल्कि अपनी आत्मा को विश्वात्मा में मिलाना या अपने भीतर के प्रकाश को बाहर फैलाना है। इस विस्तार में ही सुख है।

प्रार्थना के साथ रोना शोभा नहीं देता।

जब हम प्रार्थना के लिए देवालय में जायें तो हमें केवल देवता से मधुर मिलन की उत्कण्ठा लेकर ही जाना चाहिये।

प्रभु हमारे शब्दों में बंधी प्रार्थना नहीं सुनते। वे केवल हृदय की भाषा को जानते हैं।

हम तो प्रभु से यही कह सकते हैं—"हे प्रभु ! हम तुमसे क्या माँगें ? मन में उठने से पहले ही तुम हमारे मनोरथों को जानते हो। हमारे मनोरथ तुम्हीं हो। हम तुमसे तुमको ही

माँगते हैं। तुम हमें अपना ही अंश प्रदान करो तो हमें सब कुछ मिल जायेगा।

प्रभु से न्याय की दुहाई देकर मांगना उसका अपमान करना है।

जहां श्रद्धा होगी वहाँ याचना नहीं होगी।

अपनी श्रद्धा के अनुरूप हम स्वयं बन जाएंगे।
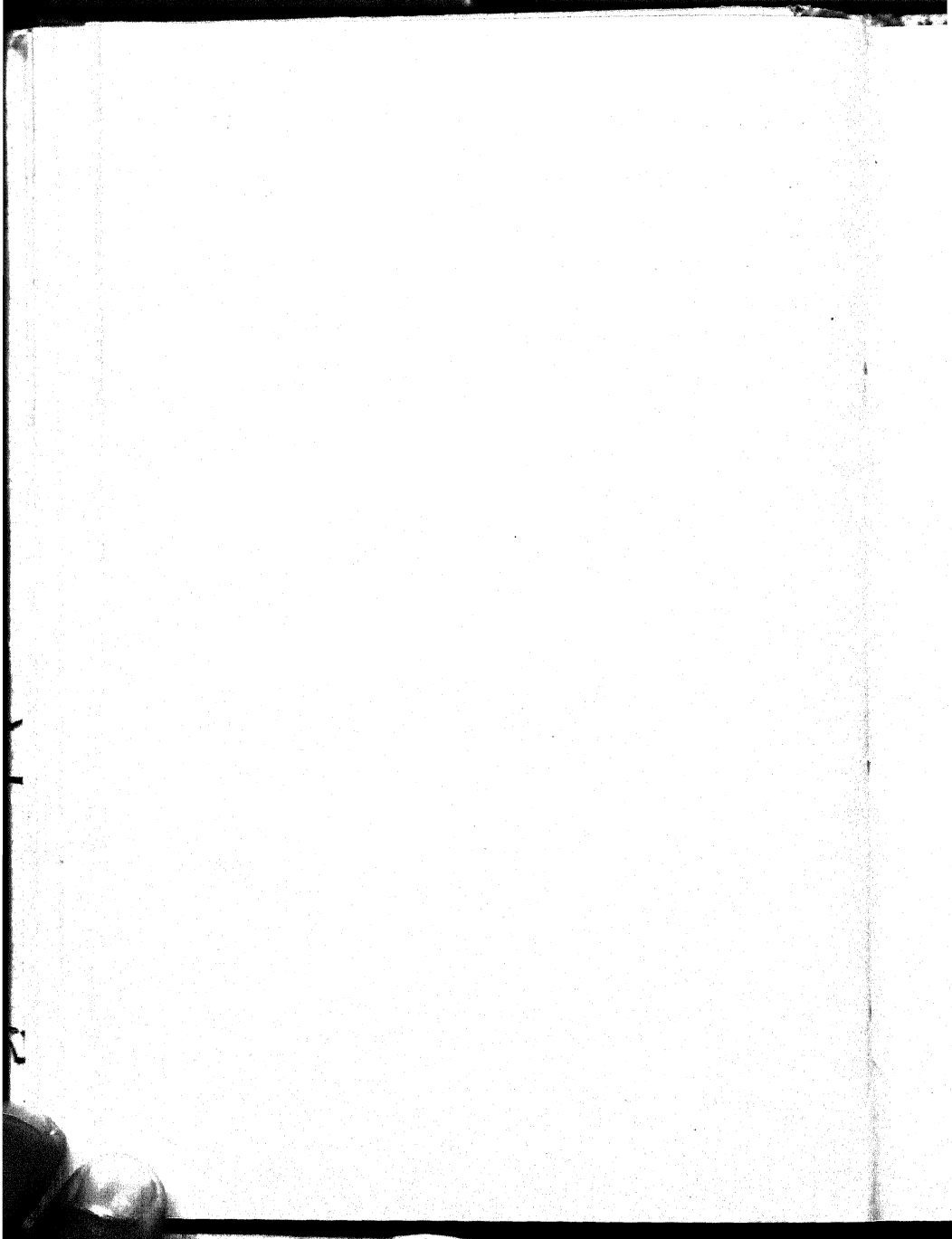
५.

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

उत्साहपूर्ण श्रम में जीवन की सार्थकता

जीवन में उत्साह भरने के हेतु ही उपनिषत्काल के ऋषियों ने कहा था : 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।'

'उठो, जागो। जो श्रेष्ठ कार्य हैं उन्हें पहचानो और उनमें प्रवृत्त हो।'

समस्त दिन के कार्य हमारे मन को चारों ओर से घेरे रहते हैं। चिन्ताओं का आवेष्ठन हमारे अंग-प्रत्यंग को जकड़े रहता है। चित्त से इस जंजाल को निकालकर शान्ति के क्षेत्र में पहुँचने के लिए किसी प्रबल प्रेरणा की आवश्यकता होती है। वही प्रेरणा वैदिक ऋषियों ने इस जागरण मंत्र में दी है।

दिल में जब राग-द्वेष तृष्णा-वितृष्णा की गाँठ पर गाँठ पड़ गई हो, तब यह जागरण मंत्र जादू का काम करता है।

उस समय अन्तरात्मा से ध्वनित हुए ये शब्द 'उत्तिष्ठत जाग्रत' उन जंजीरों को एक ही झटके में तोड़ देते हैं जो हमारे

तन, मन को चारों ओर से घेरे रहती हैं।

यह मंत्र हमारे हृदय में नयी आशा जगाता है, हमें नये उत्साह, नये विश्वास के साथ कार्य-प्रवृत्त करता है।

दूसरे के जीवन में आशा, उत्साह और विश्वास की जोत जगाने से पहले स्वयं अपने जीवन में इन गुणों का प्रकाश करना जरूरी है, तभी हम दूसरों को कुछ देने योग्य बन सकते हैं।

यदि हमारा अपने ही पर विश्वास नहीं है तो हम दूसरों को तो क्या देंगे, स्वयं अपनी कठिनाइयों का सामना भी न कर पाएंगे।

विश्व का इतिहास, आत्मविश्वास की महान शक्तियों के उदाहरणों से भरा पड़ा है।

आइन्सटीन को उनके अटूट आत्मविश्वास ने ही विश्व का सर्वोपरि वैज्ञानिक बनाया था। उनके सहयोगी वैज्ञानिक उन्हें सनकी मानते थे। उनके अध्यापक उन्हें मृगमरीचिका के पीछे भागने वाला पागल नवयुवक कहते थे। पर यह व्यंगोक्तियाँ कभी आइन्सटीन को निराश नहीं कर सकीं। उल्टे वह सगर्व कहते थे : 'वह दिन अत्यन्त निकट है जब मेरा सिद्धान्त सत्य प्रमाणित होगा।'

और सचमुच एक दिन आत्मविश्वास की अमर मशाल ने भविष्य के पट पर स्पष्ट अक्षरों में लिख दिया : 'आज के युग का सबसे महान विज्ञानवेत्ता आइन्सटीन।'

पर हमें याद रखना चाहिए कि आत्मविश्वास और अहंकार में बड़ा भेद है।

आत्मविश्वास जितना सत्य के निकट की चीज है, अहंकार उतना ही मिथ्या का पर्यायवाची। जो यह जानता है कि वह क्या है, वह यह भी निर्णय कर सकता है कि उसे क्या करना है। आत्मविश्वासी बातचीत में बार-बार अपने लक्ष्य की आवृत्ति अहंकार-प्रेरित होकर नहीं करता, बल्कि इसलिए करता है कि उसके सामने प्रत्येक क्षण उस लक्ष्य का स्पष्टतर चित्र प्रकट होता रहता है। इन आवृत्तियों के द्वारा वह अपने अभिलषित संकल्प को और बलिष्ठ करता है और धैर्य के साथ अपने पथ पर गतिशील बने रहने की प्रेरणा प्राप्त करता है।

हम यह भी जानते हैं कि हमारे सभी कार्यों और व्यवहारों के मूल में अहंकार की ही प्रधानता रहती है। अहंकार की उचित व्याख्या है—महत्वपूर्ण बनने की आकांक्षा। व्यक्ति को रुपया, पैसा, स्त्री, परिवार चाहे सभी कुछ मिल जाय, पर उसके मन में बड़प्पन की इच्छा सदा प्रज्वलित रहती है। आत्म-प्रशंसा की भूख मनुष्य के स्वभाव की सबसे व्यापक प्रवृत्ति है।

इस मनोवृत्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, और न ही इससे घबराना चाहिए। जिसमें अपने को महत्वपूर्ण सिद्ध करने की भूख ऊर्ध्वमुखी नहीं हो पाती, वहाँ अधोमुखी हो जाती है।

आत्मविश्वासहीन व्यक्तियों को प्रायः अपने को क्षुद्र एवं हीन मानने की धारणा हो जाती है। अपनी दृष्टि में गिरने के बाद वे समझते हैं कि हम सबसे तिरस्कृत और उपेक्षित हैं।

यह भावना हमें प्रायः मौन और निष्कर्म बना देती है। इससे हमारे विचारों की गति रुक जाती है और हमारा व्यक्तित्व संकुचित हो जाता है।

ऐसे आत्महीन व्यक्तियों का मन प्रायः यही सोचता रहता है कि दूसरे लोग उनके सम्बन्ध में क्या सम्मति रखते हैं।

धीरे-धीरे वे आत्मनिन्दक हो जाते हैं।

आत्मनिन्दा करना अपने प्रति अन्याय करना है।

हम जहाँ दूसरों से इस बात की आशा करते हैं कि वे हमारे प्रति न्यायवान हों, वहाँ पहले हमें स्वयं अपने प्रति भी न्यायवान होना सीखना होगा।

किन्तु इसका यह अभिप्राय भी नहीं कि हम आत्मश्लाघा में लीन रहें। आत्मनिन्दा से भी अधिक बुरा काम है आत्मश्लाघा करना।

आत्माभिमान को अपनाने में विवेक की आवश्यकता है। किसी महान लेखक ने जब यह कहा था : 'जीवन का सबसे बड़ा सुख है, चोरी से किये गये किसी अच्छे काम का अचानक बोध होना' तो वह वास्तव में आत्म-प्रशंसा और आत्म-स्वीकृति की आवश्यकता की बात कह रहे थे।

निन्दाशील व्यक्ति का अभिमत है कि कोई भी कार्य

स्वार्थहीन नहीं होता, सभी कार्यों के पीछे स्वार्थपरता छिपी होती है। हम मानते हैं कि अधिकांश व्यवहारों में यह आरोप भी निर्मूल नहीं है, किन्तु इस आरोप की गहराई में भी मिथ्या आशंकाओं का स्थान रहता है।

उचित तो यह है कि हम जैसे हैं वैसे ही सबके सामने अपने को प्रस्तुत करें।

जब हम जैसे हैं उसी रूप में अपने को दूसरों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करते, तो हम सदैव चिन्तित रहते हैं, क्योंकि मन ही मन हमें डर रहता है कि हमारी वास्तविकता का भेद कोई-न-कोई अवश्य प्रकट करेगा।

•

गेटे ने एक स्थान पर कहा है : हम अपने यथार्थ पर नहीं, स्वप्न पर जीते हैं। यदि स्वप्न की ज्योति बुझ जाय, तो हम भी पर्वतों को भांति जड़ हो जायँ। सचमुच स्वप्नों के गर्भ में हमारे विकास के लिए अमृत-कुंड भरा है। इससे हमारी आशा, महत्वाकांक्षा, उत्साह, रुचि सबको प्राण-रस मिलता है। हां, कर्म का संयोग उन्हें अवश्य मिलना चाहिए।

हमारे कर्म-संकुल जीवन में आकांक्षा के जो भावचित्र बने हैं, यदि उनमें हमारे स्वप्नों की तूलिकाएँ इन्द्रधनुषी रंग न भरें तो हमारा सारा जीवन एक असह्य भार बन जाय। स्वप्न हमारे वास्तविक जगत के भावात्मक अभावों की पूर्ति करते हैं और हमारे जीवन की कुरूपता का परिमार्जन करते हैं। 'दि आर्ट आव लिविंग' के लेखक आंद्रे मारोस का कहना

है : "जब बुद्धि के असंयत बोझ और विवेक के हठीले अंकुश से संतप्त जीवन की कविता के पंख थक जायँ और तुम्हें कर्म के मरुस्थल से ले जाने के लिए जीवन की तृष्णाएँ तुम्हारे आग्रह के बावजूद मना कर दें तो या तो जीते-जी मृत्यु का वरण कर लो और या मेरी इन पंक्तियों पर अमल करो और नवजीवन प्राप्त कविता के पंखों पर बैठकर, चाहे क्षण भर को ही, इस ब्रह्मांड के सारे वैभव को अपनी बाँहों में समेट लो। और ये हैं वे पंक्तियाँ, जिनका एक-एक अक्षर अनुभूति की स्याही से लिखा गया है : जब मन का वायु तुम्हारी जीवन-सरिता में तरंगें पैदा करने में असमर्थ हो जाय तो उस पर कल्पना का अमृत छिड़को—तन के द्वार बन्द करके मन को सीमाहीन छोड़ दो और शिशु की भाँति स्वयं को दिवा-स्वप्नों में लय कर दो। बस इतना ही काफी है। तुम्हारे रन्ध्र-रन्ध्र में अमृत का संचार होने लगेगा।"

छोटे-छोटे स्वप्न ही इतिहास को नया मोड़ देते हैं, नवीन क्रान्तियों को जन्म देते हैं।

अठारहवीं शती की अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों ने संसार के इतिहास को एक नया मोड़ प्रदान किया। पर उस काल के लोगों को ऐसा नहीं लगता था कि हम किसी ऐतिहासिक तथा क्रान्तिकारी युग में रह रहे हैं। केवल हम लोग ही उसकी महत्ता को जान सकते हैं।

आज के युग को भी निराशापूर्ण न मानो। श्रद्धा और विश्वास से काम लें तो हम जान सकेंगे कि हम आज भी ऐसे काल में रह रहे हैं, जिसे आगे चलकर हमारी सन्तानें अपूर्व और महान कहकर पुकारेंगी।

यह ठीक है कि आज का युग विनाशोन्मुख प्रतीत होता है, किन्तु आज भी महान् निर्माण के कार्य हो रहे हैं। कुछ वर्ष पहले 'एक विश्व' की कल्पना एक स्वप्न-मात्र था। पर आज सब राष्ट्र इतने घुलमिल गये हैं, दूरी को वैज्ञानिक साधनों से इतना कम कर दिया गया है, कि सब राष्ट्र पड़ोसी की भाँति बन गये हैं। 'एक विश्व' की यह कल्पना पहले कुछ चुने हुए लोगों की आशा और स्वप्न-मात्र थी। आज भी स्वप्न को साकार होने में असंख्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, किन्तु हमें विश्वास करना चाहिए कि हमारी आशा और श्रद्धा इन कठिनाइयों पर विजय पा लेगी।

जीवन की सार्थकता भविष्य के प्रति हमें सदैव आशान्वित रहने में है। आशान्वित व्यक्ति ही स्वप्न-योजक जीवन बिता सकता है। आज की कठिनाइयों से चिन्तित होकर हमें निराश और अविश्वासी नहीं बनना चाहिए।

संसार का भव्य भवन जिन स्तंभों पर खड़ा है वे वही हैं जो अनन्त आशावान हैं; उनकी दृष्टि भूतकाल की ओर न होकर भविष्य की ओर रहती है।

जीवन में बाधाएँ तो आती ही हैं लेकिन मनुष्य उन पर विजय अवश्य पाता है। आरम्भ से अब तक मनुष्य की आत्मा,

सब बाधाओं और कठिनाइयों के बावजूद, आगे बढ़ती रही है। इसी अटूट आशा से संसार प्रगति कर रहा है। आशा न रहे तो वर्तमान की बाधाओं में ही वह डूब जाय। वर्तमान सदैव संघर्ष-शील रहता है। सत्य को तात्कालिक जगत पहले सदा अस्वीकार करता है, पर अन्त में सत्य के आगे हार माननी पड़ती है। दुनिया गैलीलियो और डार्विन के आगे झुकी। भविष्य में भी सत्यवक्ता के सामने वह झुकती रहेगी। संसार के सत्यासत्य भरे कोलाहल के बीच हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि विजय कोलाहल की नहीं सच्चाई और साहस की होती है।

एक चीनी लोकोक्ति है : चंद्रमा जब बिल्कुल पूर्ण होता है, तभी उसका क्षीण होना आरम्भ होता है, और जब अमावस्या में उसका पूर्ण विलोप हो जाता है तभी चाँदनी रातें आरम्भ होती हैं।

कठिनाइयों और निराशाओं के बीच इस लोकोक्ति को स्मरण रखने से हमें बड़ी सान्त्वना मिल सकती है।

सब कुछ खोकर भी मनुष्य अपना जीवन प्रारम्भ कर सकता है। मनुष्य वही है जो कभी नहीं हारता। जीवन में सब कुछ खोकर भी आरम्भ किया जा सकता है।

यह लोकोक्ति कि कल से नया जीवन आरम्भ होगा, बड़ी अर्थपूर्ण उक्ति है। उस पर विश्वास रखनेवाला जीवन का अर्थ समझ सकता है। जीवन को अवसर प्रदान किया

जाए तो वह हमारे कठिन प्रयत्न किये विना भी इच्छित लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है।

जीवन की वास्तविक प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा डालने वाले शब्द हैं "क्या लाभ है ?" "यह नहीं हो सकता।" विश्व के प्रत्येक महापुरुष और नवीन आविष्कारक को ये शब्द सुनने पड़े थे, पर उन्होंने उनसे स्फूर्ति प्राप्त की, उन्हें अपनी प्रगति का साधन बनाया। हम भी ऐसे वाक्यों से निराश और पराजित न होकर, एक नई आशा और उमंग प्राप्त कर सकते हैं।

शॉ ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में कहा था—"जीवन के आनन्द की सारी मिठास, जीवन के तल में रहती है। जीवन का सर्वोत्तम कार्य जीवन के अन्त में ही किया जा सकता हैं।"

निराशा से बचने के लिए निराशा को स्वीकार करना होगा। निराशा से बिल्कुल बचे रहना, असम्भव है। निराशा के कारण उपस्थित होने पर सोचो: 'यह कठिन समय भी गुजर जायगा।' इस वाक्य को जीवन-सूत्र बना लो। इससे जीवन में बहुत सहायता मिलेगी। वर्तमान नैराश्यपूर्ण परिस्थिति सदा नहीं रहेगी, यह विचार हमारी रक्षा करता है। इससे निराशा-जनक परिस्थिति का प्रभाव बहुत कम हो जाता है।

निराशा के प्रभाव से बचने का एक उपाय यह भी है कि निराश होने पर, निराशा लाने वाले विचारों के बारे में सोचो ही मत, आशावान् विचारों को मन में स्थान दो। ऐसा

सोचना, एकदम असम्भव बात नहीं है।

अंग्रेजी के एक कवि की कविता की पंक्तियाँ हैं: यह कैसी विचित्र बात है, सचमुच बहुत विचित्र! कि जो कुछ हम खाते हैं, वह 'हम' ही बन जाते हैं। यदि हमारा यह 'हम' निराशावादी नहीं हुआ तो निराश बनाने वाले किन्हीं भी विचारों का हम पर प्रभाव नहीं होगा।

जिसका दृष्टिकोण आशावादी है, वह प्रत्येक परिस्थिति को आशापूर्ण बना सकता है। और ठीक इसी तरह, जिसका दृष्टिकोण निराशावादी है, वह प्रत्येक परिस्थिति को निराशापूर्ण ही बना देगा।

पर भविष्य के प्रति आशान्वित रहने का यह अर्थ नहीं कि हम वर्तमान को बिल्कुल भूल जाएँ।

मैं एक ऐसी महिला को जानता हूं जो पिछले पांच वर्ष से यह संकल्प करती आ रही है, कि 'समय मिलने पर' मैं अपने घर के लिए यह करूंगी, वह करूँगी। पर उसने अभी तक कुछ नहीं किया और सम्भवत: वह कुछ करेगी भी नहीं।

हम वर्तमान में हैं। यही सत्य है, चाहे हमें यह अच्छा लगे अथवा नहीं। भविष्य के साथ अपने मनोयोग को बांधकर भी हम अपने को वर्तमान से बाहर नहीं ले जा सकते। कोई भी भविष्य इतना निश्चित नहीं है कि उसके आगमन की प्रतीक्षा में हम वर्तमान का अनादर करें।

इसलिए परेशानियों से दूर न भागकर उत्साहपूर्वक उनका

सामना करना चाहिये । समस्या अप्रीतिकर हो, तो भी हम उससे भयभीत क्यों हों ? अप्रीतिकर, वास्तव में, प्रीतिकर का ही दूसरा रूप है, और उसको बदलने की आसान विधि यह है कि हम उसे ओझल करके अपना ध्यान प्रीतिकर वस्तु में लगा लें । सारे कष्टों को परे हटाते हुए, हँसें, चिन्ता पर भी हँसें ।

जापान के यशस्वी कवि योन नागोची ने जीवन की एक बड़ी असाधारण समस्या को सांसारिक यथार्थता के साथ अपनी एक कविता में हल करने का प्रयत्न किया है—"जब जीवन के कगारों की हरियाली सूख गई हो, पक्षियों का कल-रव मौन हो गया हो, सूरज के चेहरे पर ग्रहण की छाया गहरी होती जा रही हो, परखे हुए मित्र और आत्मीय जन काँटों के मार्ग पर मुझे अकेला छोड़कर चल दिये हों, तो हे मेरे प्रभु ! मेरे साथ इतना अनुग्रह करना, कि मेरे होठों पर हास्य की एक उजली रेखा खिंच जाय ।"

हास्य की एक क्षीणतम रेखा भी जीवन को नया उत्साह देती है । उत्साहपूर्ण जीवन ही जीवन है ।

हम तभी तक वास्तव में जीते हैं जब तक उत्साह से जीते हैं । मजबूरी में जीने का नाम जीवन नहीं है । ऐसे जीवन का कुछ अर्थ नहीं ।

उत्साह की विपरीत अवस्था है, मन की जड़ता और भय । मन की जड़ता से बड़ी और कोई मौत नहीं है । जिस शरीर में जड़ता का निवास है, वह शरीर शव है ।

और भय ही सबसे बड़ी दुर्बलता है। सुख-समृद्धि की दीवारें भय पर नहीं उठाई जा सकतीं। अपने संकल्पों को मुक्त विचरने दो। किन्तु इससे पहले वृत्तियों की लगाम पकड़ना सीख लो।

हमारे भीतर शिल्प और शिल्पी दोनों हैं, अतः आत्म-स्रष्टा बनने में ही हमारी सार्थकता है। आत्मविजय के सामने सम्राटों की दिग्विजय भी फीकी है। भय और जड़ता को निर्मूल नहीं किया जाय तो वह हमारे व्यक्तित्व को सैंकड़ों में विभाजित कर देगी।

हम जो चाहें बन सकते हैं, पर विश्वास करने के लिए साहस की आवश्यकता पड़ती है। इसके बाद ही हम अपना जीवन आरम्भ कर सकते हैं।

जिस क्षण अपने लक्ष्य को पाने के लिये हम पूरे उत्साह से अपना हर क्षण कार्य में लगा देते हैं, हमारा जीवन उसी क्षण से आरम्भ हो जाता है।

जब तक हम अपने ध्येय की ओर उत्साह से कदम नहीं बढ़ाते तब तक हम जीते नहीं, केवल जीने का अभिनय करते हैं।

संसार में सबसे अधिक दुखी और असन्तुष्ट व्यक्ति वही है, जिसे किसी भी काम के प्रति उत्साह नहीं है। सच्चा सुख शारीरिक दृष्टि से नहीं बल्कि मानसिक संतोष से प्राप्त होता है और मानसिक संतोष के देव-दुर्लभ आनन्द का अनुभव वे ही लोग प्राप्त कर सकते हैं, जो प्रतिदिन अपना निर्दिष्ट

काम समय पर, और पूरे उत्साह तथा योग्यता से, पूरा कर लेते हैं।

मेरे बंगले के चारों ओर, पहले, एक छोटा-सा बाग था। मैं अपने अवकाश का सारा समय उसकी देखभाल में बिताता था। आज इस पौधे को लगाना है, कल लॉन की घास कटवानी है। काम कभी समाप्त ही नहीं होने में आता था। एक सप्ताह में एक कोना ठीक करता था, तो दूसरे सप्ताह देखता था, कई सप्ताह पहले ठीक किये भाग को फिर ठीक करने की ज़रूरत पड़ जाती थी।

हमारे घर की भी यह हालत है। कभी दरी पुरानी पड़ जाती है, कभी पर्दे फट जाते हैं, कभी फ़र्श ठीक कराना है, और कभी दीवारें पुतवानी हैं। कभी-कभी मुझे लगता है कि हमारा बाग और हमारा घर ठीक मेरे समान है। मेरे अन्दर कुछ-न-कुछ ऐसा हमेशा मौजूद रहता है जिसके ठीक करने की ज़रूरत पड़ती ही रहती है। शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक, किसी भी क्षेत्र में मरम्मत का कोई-न-कोई काम चलता ही रहता है। कभी-कभी मुझे लगता है कि इस सब से क्या लाभ है। एक-न-एक दिन, मेरे बाद, मेरे बाग और घर की देखभाल कोई-न-कोई करेगा ही, और मुझे भी एक दिन मरना ही है, तो क्यों न फिर बाग और घर की देखभाल आज ही बन्द कर दी जाय, और अपनी फिक्र भी क्यों न आज ही बन्द कर दूं ?

किन्तु नहीं, मुझे अपने जीवन के सब छोटे-बड़े काम

उत्साह से करते जाना है। यही जीवन है, यही जीवन का प्रयोजन है।

यह उत्साह-भावना ही हमें प्रतिक्षण जीवन के सौभाग्य-पूर्ण अवसरों का उपयोग करने के लिए तत्पर रखती है।

६.

प्राणो वै प्रज्ञा

जो सोचोगे, पाओगे

जो जैसा विचार करता है वह वैसा ही बन जाता है। जैसा हम चाहेंगे हमें मिलेगा।

बाइबिल ने लिखा है :

"मांगो और तुम्हें मिलेगा।"

"खटखटाओ और द्वार तुम्हारे लिए खुल जाएँगे।"

"तलाश करो, और तुम पा लोगे।"

हमारे अन्तर में एक ऐसी प्रज्ञा है जो समय और दूरी का व्यवधान लांघकर सत्य का दर्शन कर लेती है।

इस दृष्टि को मलिन नहीं होना चाहिये। वह बाह्य और मिथ्या रूपों का भेदन कर सच्चाई तक पहुंचती है। ऐक्सरे की शक्ति से भी अधिक उसमें पारदर्शकता है। यही जीवन को सार्थक बनाती है।

अपने भीतर की इस महानता के अतिरिक्त और कोई सार्वभौमिकता नहीं।

किन्तु इस अन्तःशक्ति की प्रेरणा को समझने में चिन्तन की आवश्यकता है।

मानसिक कायरता के कारण हम मौलिक चिन्तन कुछ भी नहीं करते और दूसरे लोगों के विचारों और कथनों के अनुसार जीते हैं। जब कोई समस्या हमारे सामने आती है तो हम उसपर स्वतन्त्र-रूप से विचार न कर औरों की शरण जाते हैं। चिन्तन की यह प्रणाली सर्वथा दोषपूर्ण है।

दार्शनिक शोपनहार के इस सिद्धान्त को अपना जीवन-सूत्र बना लो : 'पढ़ो मत, सोचो।'

संस्कार विचार नहीं हैं। वे विचारों की आधार-भूमि हैं। विचारों को रूप प्रदान करने का काम हमारा है।

पर विचार करने का यह अर्थ नहीं कि हम कार्य के समय भी विचार में विकल्प पड़े रहें। ऐसी विचार-सरणी, जो व्यक्ति को संशय-भँवर में डाल देती है, निष्प्रयोजन है। विचार करना जितना आवश्यक है, क्रियात्मक निश्चय पर पहुँचना भी उतना ही आवश्यक है।

अनिश्चयात्मक बुद्धि से जीवन का कोई भी कार्य पूरा नहीं हो सकता। वह उसी तरह निरर्थक है जिस तरह मनुष्य के वे कार्य जिनका कोई प्रयोजन नहीं होता।

विचारात्मक अनिश्चय तभी तक रहता है जब तक विचारक

के पास प्रज्ञा न हो और जीवन की निष्प्रयोजकता तभी तक रहती है जब तक कार्य का समुचित उपयोग न हो। छोटे-छोटे कामों के लिए हर समय संकल्प-विकल्प में डगमगाते रहकर जिस प्रकार हम अपनी विचार-शक्ति का अपव्यय करते हैं उसी तरह हम जीवन के कल्याणकारी प्रयोजन का रूप न देखकर जीवन-शक्ति का ह्रास करते जाते हैं।

विचारों को शक्तिशाली बनाने के लिए जिस प्रकार ज्ञान-संचय की आवश्यकता है, और वह तभी प्राप्त हो सकती है यदि हम अपने नित्य के व्यवहारों में विचारों का अपव्यय न करें,—उसी प्रकार जीवन के लिए अर्थपूर्ण प्रयोजन की आवश्यकता है और जीवन-शक्ति को अपव्यय से बचाने की अनिवार्यता है।

प्रयोजन-हीन विचार-धारा पथभ्रष्ट हो जाती है। पथभ्रष्ट विचारधारा ही चिन्ता की मरुभूमि में प्रवेश कर जाती है। तब विचार-शक्ति लुप्त हो जाती है और जीवन में विचार के स्थान पर केवल चिन्ता की विस्तीर्ण मरुभूमि जीवन का अन्त करने को शेष रह जाती है।

प्रयोजन-हीन विचार-धारा का पथभ्रष्ट होना बहुत स्वाभाविक है। निरर्थक चिन्ता में मगन चिन्तक का ध्यान प्रायः ऐसी समस्याओं में उलझ जाता है जिनका समाधान संभव ही नहीं होता।

मनःस्थिति जब ऐसे भँवर में फँस जाय तो निराकरण का

यही उपाय है कि अर्थहीन विचार-विभ्रम से बाहर निकल कर सोचना बन्द कर दे।

इस दिशा-परिवर्तन से भी मानसिक स्थिति में स्वस्थता आएगी। दृष्टिकोण में नया परिवर्तन आएगा। और यह भी संभव है कि पिछली विचारधारा दुश्चिन्ताओं के मरुस्थल का मार्ग छोड़कर सार्थक जीवन के लिए उपयोगी विचारों में व्यस्त हो जाए।

चिन्ताओं को अवचेतन मन की गहराई में नहीं जाने देना चाहिये। दुश्चिन्ताओं की इस बीमारी से छूटने का एक उपाय यही है। चिन्ताओं के चक्कर में न पड़कर एक बार ही यह सोच लेना चाहिये कि हमारे विक्षेप का सच्चा कारण क्या है। अच्छी तरह विश्लेषण करके देख लेना चाहिये कि क्या उसका वही कारण है जो हम समझ रहे हैं। आवश्यकता हो तो अपने मित्रों से या अपने विश्वस्त साथियों से उस संबंध में चर्चा भी कर डालनी चाहिये। कह डालने से उस चिन्ता का भार हल्का हो जाता है।

मन की व्यथा कहने से मन में दबी हुई चिन्ता व्यक्त होकर शान्त हो जाती है।

उन दबी-दबायी और जमा करके बोतलों में भरी हुई दुर्भावनाओं से हमारे सम्पूर्ण विचार-जगत् में एक विषैला धुआँ सा भर जाता है। हृदय का द्वार खोल देने से वह विषाक्त धुआँ बाहर चला जाता है। मन हल्का होता है। दुश्चिन्ताओं से मुक्ति मिलती है।

प्रायः दुश्चिन्ताओं का कोई आधार नहीं होता। केवल

किसी अस्पष्ट भय की आशंका व्यक्ति को अस्वस्थ कर देती है।

यह रोग उस अपरिपक्व वय के व्यक्ति को जकड़ लेता है जो अपने नैसर्गिक उद्वेगों का अस्वाभाविक रीति से निरोध करते हैं।

चिन्ता से बढ़कर, आज के मनुष्य का और कोई बड़ा शत्रु नहीं हो सकता। चिन्ता करने वाले व्यक्ति को जीवन के महत्वपूर्ण कार्य करने का समय ही नहीं मिलता। उसका सारा समय तो व्यर्थ की उधेड़बुनों में ही चला जाता है। जितना अधिक वह अपनी भूलों और असफलताओं पर विचार करता है, उतना ही अधिक उसका मस्तिष्क असन्तुलित होता जाता है।

हमारी चिन्ता का एक और बड़ा कारण यह है कि हम चाहते हैं कि दूसरे सदा हमारे बारे में चिन्तित रहें और जब वह ऐसा नहीं करते, तो हम स्वयं चिन्तित हो जाते हैं। इसका उपाय इसके अलावा कुछ नहीं है कि हम सदैव अपने को कार्य-व्यस्त और बहिर्मुखी रखें।

उपयोगी कार्य में व्यस्त रहना ही चिन्ता की परम औषधि है।

कार्यव्यस्त पुरुष ही यज्ञ-पुरुष होता है। यज्ञ के लिये सब का अपना-अपना यज्ञ-क्षेत्र है। उस क्षेत्र को पहचानना चाहिये। वह क्षेत्र वही होता है जिसमें कार्य को योग्यताओं और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को पूरा अवसर मिले। वह उसका कार्य-क्षेत्र है। उसका ठीक चुनाव अस्तव्यस्तता में नहीं होता। इस चुनाव पर जीवन की सफलता निर्भर करती है। यह चुनाव ही ठीक न होगा तो कठिन श्रम करने पर भी सफलता संदिग्ध रहेगी। प्रायः देखा गया है कि असफल व्यक्तियों में से अधिकांश व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके कार्यक्षेत्र के चुनाव में भूल हो जाती है।

हमारा क्षेत्र वही होता है जिसमें हमारी रुचि हो, हमें अपने विशेष गुणों के विकास का अवसर मिले।

यह विकास प्रायः निर्माणपरक कार्यों में ही होता है। जब भी हम कुछ करते हैं तो कुछ नये का निर्माण करते हैं। शिल्पी अपने हाथ से जो चीज बनाता है उसमें कुछ न कुछ नवीनता रखने का यत्न अवश्य करता है। नवीन निर्माण में ही आनन्द है। उसी में मनुष्य की स्वाभाविक रचनात्मक वृत्ति को संतोष मिलता है और इसी संतोष से हमारा व्यक्तित्व विकसित होता है। इस निर्माण में ही यज्ञ की सार्थकता होती है।

यज्ञ-क्षेत्र का चुनाव करते हुए एक बात का ध्यान रखना चाहिए। कभी अपने क्षेत्र का चुनाव काल्पनिक मनोरथों की छाया में नहीं करना चाहिए। माता-पिता के अनुचित

दबाव या मित्रों की अनुकृति के प्रभाव में भी यह चुनाव नहीं होना चाहिये ।

विधाता ने प्रत्येक व्यक्ति को एक निर्दिष्ट सिद्धि के लिये जगत में भेजा है । उसी कार्य के प्रति व्यक्ति की एकाग्रित निष्ठा होती है । उसे सिद्ध किये बिना उसे संतोष लाभ नहीं होता । अन्तःप्रेरणा उससे वह काम करवाती है । उसे करते हुए जब वह थक जाता है तो कुछ देर विश्राम लेकर नयी ताज़गी के साथ फिर काम में निमग्न हो जाता है ।

वह पूर्व निर्दिष्ट कार्य ही उसकी पूजा हो जाती है । मनोरंजन के लिये उसे अन्य उपकरणों का उपयोग नहीं करना पड़ता । उसी कार्य में उसका पूर्ण मनोरंजन हो जाता है ।

यह मनोवस्था उसे इस योग्य बना देती है कि वह अपना प्रत्येक कार्य पूर्ण तन्मयता से करता है । जिस उल्लास और भावावेश के साथ अन्य पुरुष आनन्द भोग में प्रवृत्त होते हैं उसी से व्यक्ति अपने यज्ञ कार्य की सिद्धि में प्रवृत्त होता है । तभी उस का कार्य-जनित श्रम भी विलास में परिवर्तित हो जाता है ।

ऐसे आत्मप्रेरित कार्य में ही मनुष्य अपने श्रेष्ठ गुणों का विकास कर सकता है । और गुणों के विकास के बाद ही वह जीवन को सच्चे अर्थों में सार्थक बना सकता है ।

जीवन में सर्वोच्च आनन्द की अनुभूति उपयोगी होने में है । किसी अविकसित कार्य को ढूंढ़कर उसकी संभावनाओं को देखने के बाद उसकी पूर्ति में अपने को खपा देना, जितना

सुखद कार्य है उसकी तुलना में सभी सुख तुच्छ हैं।

हम सब ध्वजा स्तम्भ के समान हैं। कई स्तम्भ बहुत ऊंचे होते हैं और कई छोटे। परन्तु ध्वज स्तम्भ की महत्ता उसकी छोटाई और ऊंचाई पर नहीं, वरन उस पर लगे ध्वज पर है।

जब हम अपने कार्यमय जीवन के चरम भाग पर पहुंचें तो हमें गौरव-पूर्वक कहने योग्य होना चाहिये कि हम चाहे अधिक ऊंचे स्तम्भवत् नहीं थे, पर हमपर जो पताका लहराती थी वह संसार की सर्वश्रेष्ठ पताका थी।

अपना ध्येय निश्चित करते हुए यह ध्यान रखना होगा कि वह असाधारण न हो। हम में से बहुत लोग ऐसे हैं जो साधारण कुछ नहीं चाहते, सब कुछ असाधारण चाहते हैं, और असाधारण भी इतना कि जो स्वयं हमारी कल्पना से भी अगम्य हो।

हालीवुड के एक चित्र-निर्माता सेमुअल गोल्डविन ने एक बार कहा था: "मैं एक ऐसा चित्र बनाना चाहता हूं जो भूकम्प से आरम्भ हो, और फिर उत्तरोत्तर क्लायमैक्स की ओर बढ़े।"

हमारी सृष्टि का प्रारम्भ भी क्या ऐसे ही भूकम्प से नहीं हुआ था और आज क्या इस कोलाहल और अस्त-व्यस्तता के मध्य भी हमें यह सुन्दर सृष्टि दिखायी नहीं दे रही है? सौन्दर्य बड़ी-बड़ी शक्तिशाली और स्थूल वस्तुओं से महान होता है।

महानता विनाशकारी शक्तियों के विस्फोट में नहीं बल्कि निर्माण की सुन्दर शान्त कृतियों में है। अरबों वर्ष पहले विश्व में दो शक्तियां कार्य कर रही थीं। एक ओर भूकम्पों एवं भीषण अग्नि-कांडों की विभीषिका थी। दूसरी ओर वनस्पतियों तथा जीवधारियों के बीज रूप सूक्ष्म जीव-कण। दोनों में संघर्ष चल रहा था। अन्त में भूकम्पों और अग्नि-कांडों का अन्त हो गया और विश्व इन्हीं सूक्ष्म तत्वकणों के बल पर जीवित रह गया। उस समय कौन यह कल्पना कर सका होगा कि भीषण भूकम्पों और अग्निकांडों के बीच इन जीवकणों का जीवित रहना सम्भव होगा, पर इन्हीं कणों ने जीवन, कला और संस्कृति को जन्म दिया।

हमें महानता की झूठी कल्पनाओं से प्रभावित न होकर अपनी स्थिति के अनुकूल ही स्वप्न लेना चाहिये। दिवा-स्वप्न बुरे नहीं, स्वप्न ऊंचा न होगा तो चेष्टा में भी विशालता और समर्थता नहीं आयेगी, किन्तु यदि कल्पना-जगत् में ही विचरण करते रहोगे तो भी तुम्हारा जीवन अवास्तविक हो जायगा। जो स्वप्न लो उसे पूरा करने के लिए क्रियात्मक उपाय का भी आश्रय लो। तुम्हारे स्वप्न, तुम्हारी प्रेरणा के स्रोत होने चाहिएँ। उनसे तुम्हें बल मिलना चाहिए।

जो स्वप्न पुरुषार्थ में परिवर्तित नहीं होगा वह व्यक्तित्व को और भी खंडित कर देगा। अपनी प्रकृति के अनुकूल कार्यक्षेत्र चुनकर ही सफलता पाने के संबन्ध में आइन्स्टीन ने

अपने अनुभव के आधार पर लिखा था :

"मैं वही कार्य करता हूं, जिसको करने के लिए मेरी निज की प्रकृति मुझे प्रेरित करती है । जीवन का पूरा आनन्द-मूलक उपयोग प्राप्त करने के लिए मनुष्य को लगन से काम करना चाहिए। उसी के अनुपात में खेलना चाहिए और उतना ही मौन भी रहना चाहिए ।"

हमारी वर्तमान कामनाओं तथा भावी कामनाओं के बीच जो संघर्ष होता है उसका कारण अधिकांश उच्चादर्श बन जाते हैं। हम तुम जैसे साधारण व्यक्तियों के लिये इन उच्चादर्शों को एकदम पचा सकना असम्भव है।

अपने स्वभाव के अनुकूल क्षेत्र का चुनाव न होने से जीवन विषम संघर्षों का शिकार बन जाता है।

इस विषमता को तथा जीवन के अन्य वैषम्यों को दूर करने का एक ही उपाय है, अपनी स्वाभाविक ऐन्द्रिय वृत्तियों का संयम और समन्वय। उन्हें उपयोगी कार्यों में लगाना।

स्वभाव में बसी प्रवृत्तियों के उपयोग से ही जीवन में शान्ति आती है। इन आपस में विरोधी प्रवृत्तियों में साम्य स्थापित करना और उनका सृजनात्मक प्रयोग करना जीवन के महानतम कार्यों में से है।

जीवन के प्रारंभ में हम सबकी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ स्वार्थपूर्ण ही होती हैं, परन्तु हमारी सफलता इस में है कि हम किस सीमा तक उनका उपयोग पदार्थ में करते हैं।

जीवन कई विरोधी तत्वों से बना है । उन विरोधी प्रतीत होने वाले तत्वों में व्यवस्था और सामंजस्य होने से ही जीवन की गति में वेग रह सकता है।

७.

समत्वं योग उच्यते

जीवन में समभाव का महत्त्व

जीवन अनेक परस्पर विरोधी किन्तु जीवन के लिए अनिवार्य तत्वों से बना है।

उनका इस तरह समन्वय करना चाहिए कि सभी तत्व मिलकर जीवन के विकास और उत्कर्ष में सहायक हों।

इस समन्वय या साम्य के प्रयत्न का नाम ही योग है। इस प्रयत्न की सफलता में हमारे जीवन की सफलता है।

भोग और त्याग दो विरोधी तत्व हैं; जीवन के लिए दोनों अनिवार्य हैं। इनका सामंजस्य जीवन के निर्बाध प्रवाह के लिए बहुत आवश्यक है। कुछ लोग भोगों के त्याग का उपदेश देते हैं। विषयों के परित्याग से ही आत्मसुख की प्राप्ति होगी, सर्वदा इस बात को बार-बार दोहराया जाता है।

किन्तु मैं परित्याग के नहीं समन्वय के पक्ष में हूँ। विषयों का सर्वथा त्याग तो इस जीवन में हो ही नहीं सकता। इससे

तो जीवन ही अपूर्ण रह जायेगा। जीवन है ही भोगमय, किन्तु भोगमय होने से ही दुखमय नहीं हो जाता। भोग और दुख का अनिवार्य साथ नहीं है। भोग भी त्यागमय हो तो भोग और त्याग दोनों साथ-साथ निभा सकते हैं।

भोग और त्याग का भी साम्य संभव है।

उपनिषदों ने कहा है 'तेन त्यक्तेन भुँजीथा:' 'इसलिए त्यक्तवत भोग करो'।

मानों सब कुछ परित्यक्त ही है, इसी भावना से जब हम दुनिया के सब भोग करेंगे तो उनमें आसक्त नहीं होंगे, उनमें हमारी ममता नहीं होगी।

आत्मदान के लिए भी त्याग और भोग में साम्य स्थापित करना आवश्यक है।

त्याग और भोग विरोधी प्रतीत होनेवालो भावनाएँ हैं, किन्तु पूर्ण जीवन के लिए इन दोनों की उपयोगिता है।

भोग भी त्यागमय हो सकता है और त्याग भी भोगमय हो सकता है।

मन में आत्मरति रहने से त्याग भी भोगमय हो जाता है और सांसारिक धर्म निभाते हुए 'सर्वजन हिताय पूर्ण समर्पण' के बाद भोग भी त्यागमय हो जाता है।

कहने को तो हम त्यागी हो जाते हैं लेकिन बहुत त्याग करके भी हमारा मन छोटी-छोटी वस्तुओं में बँधा रहता है।

कुछ ऐसे त्यागी वैरागी होते हैं, जिनका मन अपने कोपोन-

कमंडल में इतना अनुरक्त होता है कि बड़े-बड़े राजाओं का अपने राज्यकोष और राजप्रासादों में नहीं होता।

त्याग मन की स्थिति है। कुछ द्रव्यों का त्याग करने मात्र से कल्याण नहीं होता।

त्याग का अर्थ धनोपार्जन के सर्वथा त्याग से भी नहीं है।

देने के लिए ही अर्जन करो, यही हमारे शास्त्रों का आदेश है। देनेवाला मुक्त हस्त देगा तो अमीर-गरीब का भेद-भाव मिट जायगा।

किन्तु, धन का संचय अहितकर है। इस संचय-वृत्ति के मूल में असुरक्षा का यह भय छिपा रहता है कि शायद उसे भविष्य में जीवन-निर्वाह योग्य भी धन न मिले।

इस कल्पित भय से त्राण पाने के अर्थ ही संचय किया जाता है। भय-प्रेरित कार्य कभी संतुलित नहीं होते। उनसे समाज-कल्याण नहीं हो सकता।

असुरक्षा की यह भावना धन को अतिशय महत्व दे देती है। धन के प्रति यह ममता अस्वाभाविक है।

इस भावना से अभिभूत व्यक्ति अपना मानसिक सन्तुलन खो देता है।

धन को ही वह जीवन समझ लेता है और उसी में सुख की कल्पना कर लेता है। वह नहीं जानता कि अधिक मात्रा में धन कमाने के लिए लक्षाधिपतियों को कितने जघन्य कार्य

करने पड़े हैं, कितनों का स्वत्व छीनकर उन्होंने अपनी सम्पदा में वृद्धि की है।

वह इस सत्य को भी नहीं समझ पाता कि अनुचित उपायों से अर्जित धन दुख का कारण अवश्य बनता है।

धनियों को अपने किये पापों का फल पाने के लिए अगले जन्म की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। इसी जन्म में उन्हें अपनी करनी का फल मिल जाता है। उनके भाग्य में सुख नहीं रहता। सुख का एक क्षण पाने के लिए वे जीवन-भर का संचय मिट्टी में मिलाने के लिए तैयार रहते हैं, फिर भी उन्हें सुख नहीं मिलता। धन के मूल्य में सुख पाने की आशा मृगतृष्णा है।

मैं बहुत से धनियों की अन्दरूनी हालत जानता हूँ। उनका धन ही उनके लिए अभिशाप हो जाता है। उनका न कोई सच्चा मित्र है, न साथी। स्त्री, पुत्र, बन्धु-बान्धव सभी उन्हें निरादर से देखते हैं।

प्रचुर धन प्रायः पाप से ही कमाया जाता है और इससे पहले कि धनिक व्यक्ति धन के कारण किसी का आदरणीय बने, प्रेम पात्र बने, सब की दृष्टि में कुत्सित और कलंकित हो जाता है।

धन की सहायता से आत्मीयता नहीं मिलती। संसार के सबसे धनी व्यक्तियों में से एक हैनरी फोर्ड थे। उनके अन्तिम दिनों में एक पत्रकार ने पूछा :

'आपके पास सभी वे चीजें हैं, जिनकी साधारण लोग

कामना करते हैं। क्या कोई ऐसी वस्तु भी है जो आपको उपलब्ध नहीं ?'

फोर्ड ने बड़े दर्दभरे स्वर में उत्तर दिया—

'एक बहुत मूल्यवान वस्तु मुझे भी प्राप्य नहीं, वे हैं सच्चे मित्र। मैं जीवन भर सच्चे मित्रों की खोज में रहा। सच्चे मित्र की प्राप्ति से जो सुख मिलता है, वह मुझे नहीं मिला। आज भी मुझे एक सच्चा मित्र मिल जाये तो मैं अपना सारा धन और यश उस पर न्यौछावर करने को तैयार हूँ।

'धन उपार्जन करके, मैंने अपने चारों ओर एक ऐसी दीवार खड़ी कर ली, जिसे लांघकर कोई सच्चा मित्र मुझ तक नहीं आ सकता था। मैं समझता था, धन से सब कुछ मिल सकता है, पर धन से मित्र नहीं मिल सकता। मित्र मिलता है अपने को देकर, जो धन से बड़ी चीज है।

'यह सच है कि मेरी आरम्भ में जिन लोगों ने सहायता की, वे भी मेरे मित्र थे, पर सच्चे मित्र नहीं। पर मैंने उन्हें अपने को बाहर से ही छूने दिया, कभी उनसे दिल खोलकर नहीं मिला, कभी उन्हें अपना नहीं बनाया। इसीलिये आज मैं अकेला हूँ। मेरा कोई सच्चा मित्र नहीं है।'

हेनरी फोर्ड ने भी अपने को देकर मित्र पाने की बात कही। यह आत्मदान ही सबसे बड़ा दान है। वह धन के दान से भी महान है। धन सुख का साधन नहीं बन सकता।

संसार के एक अन्य धनिक कार्नेगी ने भी एक बार कहा था : 'मेरी सारी सम्पत्ति के बदले में यदि मुझे एक सच्चा मित्र मिल जाय, तो मैं बहुत प्रसन्न हूँगा। सच्चे और हितैषी मित्र

के रहने पर, संसार का कोई दुख भी मुझे विचलित नहीं कर सकता।'

धन संग्रह की प्रचण्ड इच्छा और धनोपार्जन के लिए अन्यायपूर्ण कार्यों में रत व्यक्ति सुख अनुभव करने की क्षमता ही खो देता है। धन-लुब्ध व्यक्ति में भगवान द्वारा प्रदत्त उस सुख-सामग्री को ग्रहण करने की क्षमता ही नहीं रहती जो मूल्य से प्राप्य नहीं। धनिक अपने स्वर्ण-पिंजरे में ऐसे गिरफ़्तार रहते हैं कि उन्हें सुख के सच्चे साधनों तक पहुंचने का अधिकार ही नहीं रहता।

दान न करके जो केवल ग्रहण करने में परम पुरुषार्थ समझते हैं, वे जीवन-भर ठोकर खाते हैं। वे सदा अपने अधिकार से अधिक की लालसा करते हैं। वे जगत के सम्पूर्ण वैभव अपनी मुट्ठी में लाना चाहते हैं।

बचपन में यह इच्छा इतनी प्रकट नहीं होती किन्तु यौवन में यह वासना प्रचंड अग्नि का रूप धारण कर लेती है।

अधिकांश मनुष्य सारी उम्र इस आग में जलते रहते हैं।

उससे बचने और सुन्दरता के सदैव निकट रहने का केवल एक उपाय है। वह यह कि सौन्दर्य पर अधिकार पाने की इच्छा का त्याग कर दो। तब देखोगे कि वह सौन्दर्य सदैव स्वेच्छा से तुम्हारा हो जायगा।

भोगेच्छा और सौन्दर्य का निसर्ग विरोध है।

आँखों में भोग की लालसा आते ही सौंदर्य देखने की शक्ति लुप्त हो जाती है।

सौन्दर्य की कोमल भावना और आत्मीयता की दिव्य अनुभूति दोनों कोमल भावनाएं हैं, ये भोगेच्छा की लपटों में एक क्षण भी नहीं रह सकतीं।

देखनेवाले की आँखों में प्रचंड भोगाग्नि की लपटें होंगी तो सुन्दरता अपने को सौ परदों में छिपा लेगी।

कौन चाहेगा कि कोई लुटेरा उसके स्वत्व को लूटे।

देखने वाले की दृष्टि में यदि केवल सराहना है, आत्मीयता है, तब सौन्दर्य निस्संकोच स्वयं निकट आयगा। निकट ही नहीं आयगा अपने को निरावृत्त करेगा। वह अपने रूप की चरम सीमा व्यक्त करेगा।

तभी वह अपने रूप-कलश का घूंघट खोलेगा, क्योंकि उसे मालूम होगा कि किसी कामदग्ध व्यक्ति की आँखें उसके रूप में नग्नता की खोज नहीं करेंगी।

भोग की इच्छा छोड़ते ही सृष्टि की समस्त सौन्दर्य-माधुरी हमारे सामने करबद्ध खड़ी हो जाती है।

जो तपस्वी नग्न बालक के सौन्दर्य की तरह ही नग्न युवती के सौन्दर्य को देख सके, भोग की इच्छा न करे, उसके समक्ष ही वह सौन्दर्य अपने को निःसंकोच खोलेगा।

किन्तु याद रखो सुन्दर आत्मा ही सुन्दरता को देख पाती है।

सौन्दर्य शब्द का अर्थ करना बहुत कठिन काम है।

जब तक सौन्दर्य स्वयं अपने घूंघट को न खोले तब तक

वह अदृश्य रहता है। जब तक वह स्वयं आकर हमारी वीणा पर अपने गीत न गाये तबतक वह वर्णनातीत रहता है। जब तक वह स्वयं पथदर्शक न बन जाय तबतक उसकी राह का पता पाना नामुमकिन है।

सौन्दर्य को सब भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखते हैं।

कार्य-व्यस्त लोग उसे विश्राम की घड़ी में मन्द-मन्द आलाप करते सुनते हैं।

साहसी युवक उसे पर्वत के शिखरों पर नृत्य करते देखते हैं, श्रमजीवी उसे सन्ध्या के गवाक्षों से पृथ्वी पर आते हुए देखते हैं।

सच तो यह है कि सौन्दर्य के नाम पर सभी वर्गों के लोग केवल अपनी अतृप्त आकांक्षाओं का ही परितोष चाहते हैं।

इस आकांक्षा से रहित होकर ही हम सौन्दर्य का दर्शन कर सकते हैं।

शुकदेव के सामने जलाशय में स्नान करती हुई ऋषि-कन्याओं ने कोई संकोच अनुभव नहीं किया था क्योंकि शुकदेव की दृष्टि में भोग नहीं था, उसके मन में ग्रहण करने की लालसा नहीं थी।

आज के शहरी वातावरण में इतना विष मिला हुआ है कि कोई भी तरुण इस दोष से मुक्त नहीं रह सकता। सारा जीवन भोगमय बन गया है।

इसीलिए संसार का सौन्दर्य अन्धेरे में छिपता फिरता है। केवल कुरूपता ही सामने आती है। जीवन कटु होता जाता है। जीवन तभी मधुर होगा जब संसार का सौन्दर्य स्वयं प्रकट

होगा। किन्तु यह होगा तभी जब हमारी दृष्टि निर्दोष होगी, उसमें वासना नहीं होगी, भोगेच्छा नहीं होगी। तभी हम विश्वात्मा की विभूति से आत्मीयता का सम्बन्ध कर सकेंगे और सौन्दर्य का आनन्द ले सकेंगे।

भोग की इच्छा जागते ही तुम्हारे मन में भोग्य वस्तुओं पर अधिकार करने की, जो अपना नहीं उसे जबरदस्ती अपना बनाने की, लालसा जाग उठती है।

भोग्य वस्तु उस समय या तो विद्रोह करती है या मूल्य मांगती है। भोक्ता और भोग्य में सदैव विरोध चलता रहता है। भोग्य और भोक्ता में प्रेम की कल्पना बिल्कुल निराधार है।

भोगेच्छा को प्रेम का दर्जा देना बहुत बड़ी प्रवंचना है। प्रेम आत्मा से ही हो सकता है और भोग हम केवल शरीर का ही कर सकते हैं, आत्मा का नहीं।

आत्मा को हम भोग्य नहीं बना सकते; क्योंकि आत्मा स्वतन्त्र है, वह कभी दासता में नहीं बंधती। वह किसी की भोग्य नहीं बन सकती।

भोग ही करना है, किसी के प्रेम को पाना है तो आत्मिक प्रेम की इच्छा करो। किसी मित्र या स्त्री को तुम्हें आत्मीय बनाने की इच्छा हो तो उसके शरीर पर अधिकार करने की बजाय उससे मानसिक अनुकूलता बढ़ाओ। मानसिक मैत्री शरीर सम्पर्क से अधिक स्थायी और शीतल होती है।

भोग ही करना है तो आत्मा का करो। इसे भोग नाम

देना मिथ्या है। आत्मा की गहराई तक जाने वाला प्रेम ही स्थायी तृप्ति देता है। उसमें चुभन नहीं होती, विष नहीं होता और यही वह मिलन है जो कभी विरह में नहीं बदलता।

जिसके प्रति तुम्हारा प्रेम हो कभी उससे शारीरिक संयोग की कल्पना न करो और जिससे शारीरिक मिलन की लालसा जागती हो उससे झूठा प्रेम जताने की कोशिश न करो। वह केवल धोखा है, और धोखे के कामों में सुख नहीं मिल सकता।

सच्चा भोग भोगने के लिये झूठे भोगों की इच्छा का संयम करना पड़ता है, मन की वृत्तियों का निरोध करना होता है।

मन में वेग होता है, विवेक नहीं। विवेक द्वारा ही उस वेग को, मन के शक्तिपुंज को, निर्माण-कार्य में प्रयुक्त किया जा सकता है।

मन को कल्याणकारी कार्यों में युक्त करने से पूर्व उसे संयम की रज्जुओं में बांधना होगा।

भोगमय जीवन से त्यागमय जीवन में प्रवेश पाना अकस्मात सम्भव नहीं है।

पहले अपनी स्वाभाविक मनोवृत्तियों का दमन करना होगा, मन को काबू में लाना होगा। तभी मन स्वस्थ होगा। आत्मा स्वस्थ होगी।

भोग-कार्य उसी क्षण तक चलेंगे जब तक आत्मा इन्द्रियों को भोग में प्रवृत्त करेगी। आत्मवश्य इन्द्रियां भोग में लिप्त

नहीं होंगी। क्योंकि लिप्त होने पर उनकी स्वतन्त्रता छिन जाएगी।

केवल इसी तरह जीवन के सब स्वाभाविक धर्मों को निभाते हुए ही आत्मसुख मिलना सम्भव है।

गीता में आत्मप्रसाद पाने के उपाय बतलाते हुए कहा गया है : 'आत्मवश्यैर्विध्यात्मा प्रसादमधिगच्छति'।

आत्माधीन इन्द्रियों से भोग करते हुए ही आत्मिक प्रसाद की प्राप्ति हो सकती है।

अपने विवेक से अपने भोगों का चुनाव करना और शेष का त्याग कर देना ही महान् त्याग है।

यह चुनाव जीवन में एक ही बार नहीं करना पड़ता। प्रतिक्षण हमारे सामने नये-नये भोग प्रस्तुत होते हैं। उनमें से बहुतों का त्याग करके तुम्हें कुछ ही ग्रहण करना पड़ेगा।

यह चुनाव ही त्याग का आधार है और यह केवल विश्वहिताय आत्माहुति देने की भावना से किया जाता है।

बहुत प्राप्त करने के लिए अल्प का त्याग करना ही पड़ता है। यदि हम मानसिक विलास का मार्ग चुनें तो दैहिक विलास का परित्याग करना ही होगा। वैरागी भी सर्वथा वीतरागी नहीं होता। उसके मन में भी आत्मिक विलास की रुचि होती है और वह अनुराग उसके हृदय में सामान्य पुरुष से भी अधिक होता है।

महान से महान त्यागी भी प्रभु-प्रेम में आसक्त होता है।

इसलिए स्मरण रखो तुम्हें प्रतिक्षण त्याग करना है और त्याग से पूर्व यह निश्चय भी करना है कि त्याग करने के बाद किसे ग्रहण करना है।

उत्कृष्ट वस्तुओं के ग्रहण के लिये ही निकृष्ट का त्याग करना होगा। इस साम्य की स्थापना के पूर्व किये गये त्याग से ही, हमारा जीवन-यज्ञ पूरा होगा। इसे ही त्यागमय भोग कहेंगे। शास्त्रों में भी भोग का सर्वथा निषेध नहीं है। शास्त्र कहते हैं : भावना त्यागमयी होनी चाहिये—त्यक्त-इव भोगे जायं तो भोग भी विहित ही हैं—त्याज्य नहीं।

जीवन की यज्ञाग्नि को सर्वदा प्रदीप्त रखने के लिए हमें घृत और समिधा की आहुति देनी पड़ती है। घृत और समिधा के इस समर्पण से हमें समर्पण का सिद्धान्त सीखना चाहिये।

महत के लिये अल्प का त्याग करना केवल भावुकता नहीं है बल्कि जीवन की क्रियात्मक नीति है। इस त्याग से ही जीवन बलवान होता है।

जीवन में सच्ची समर्थता पाने के लिए हमें सबसे पहले अपनी नैसर्गिक वृत्तियों का ही समन्वय करना होगा। उन नैसर्गिक वृत्तियों में भय, अहंकार, परिग्रह, सुरक्षा, सैक्स आदि वृत्तियां मुख्य हैं।

भय हमारे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका रचनात्मक उपयोग करने में ी कौशल है।

जिस प्रकार अन्य इन्द्रियों के संयम से शक्ति का रक्षण और संचय होता है उसी प्रकार वाणी के संयम से आत्मशक्ति का संचय करो।

इस वाङ्गमय तप के अभ्यास को ही मौन कहते हैं।

जितना अधिक तुम मौन रहोगे, उतना ही अधिक मानसिक विश्राम मिलेगा। मौन शक्ति और आनन्द का अक्षय कोष है, उसमें जितना ही तुम व्यय करोगे, उससे अधिक तुम्हें प्राप्त हो जायगा। मौन के महत्त्व के बारे में आइन्सटीन का कहना है: 'दिन में एक घंटा मौन रहकर, मैं चौबीस घंटे काम कर सकता हूँ। कई दिन तक, काम की अधिकता के कारण, मैंने यह प्रयोग किया है। गणित के हिसाब से कहा जाय तो एक घंटे का मौन ७ घंटे की गाढ़ी नींद के बराबर है।'

मौन अवस्था में हमारी सब प्रवृत्तियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं—वे मरती नहीं, बल्कि प्राण के स्रोत में जाकर नवजीवन के घूँट पीने लगती हैं। जब वे बहिर्मुखी होती हैं तो अपने को क्षीण करती हैं। मनोमुखी होकर वे पोषण पाकर शक्तिशाली बनती हैं। शक्ति और आनन्द को सदा पाने का यही रहस्य है।

स्वामीजी ने अपनी स्वाभाविक शान्त मुस्कान के साथ व्यथा-सन्तप्त व्यक्ति की ओर देखकर कहा: 'अभी तो तुम जाओ, मैं जरूरी कामों में लगा हूँ—आज से दस दिन बाद आना। मैं तुम्हें आनन्द के अजर-अमर पारावार के किनारे

लेजाकर खड़ा कर दूँगा। पर इन दस दिन तुम सबसे दूर, मौन साधे हुए, एकांत में बिताना।'

व्यक्ति को आनन्द के प्रति सच्ची भूख थी। उसने स्वामी जी की शर्त का अक्षरश: पालन किया। दस दिन बाद जब वह स्वामीजी के पास पहुँचा, तो प्रश्न पूछने के स्थान पर स्वयं ही बोला : 'आपकी शर्त ने ही मुझे आनन्द-सिन्धु के किनारे पहुँचा दिया। इतने वर्षों ने जो सुख मुझे नहीं दिया वह सिर्फ़ दस दिन के मौन से मिल गया।'

वाणी का निग्रह अनायास नहीं होता। इसे सिद्ध करने को प्रयास करना पड़ता है।

बोलना सीखने में हमें देर नहीं लगती, किन्तु चुप रहना हम उम्र भर नहीं सीख सकते।

चार्ली चैप्लिन की पहली पत्नी ने चैप्लिन के पहले पुत्र के जन्म के एक वर्ष बाद चैप्लिन से कहा : "मुन्ना तो अभी से बोलने लगा है।"

चैप्लिन ने कहा : "पुरुषों की यही मुसीबत है। बोलना सीखने में तो कुल एक वर्ष लगता है, पर चुप रहना सीखने में सारा जीवन चला जाता है।"

बलात् तो सभी चुप रह सकते हैं, लेकिन स्वेच्छया चुप रहना आसान नहीं। इस स्वेच्छा की चुप्पी को ही वाङ्गमय तप या मौन साधना कहते हैं। मौन-साधना स्वर-साधना से भी कठिन है लेकिन मौन का स्वर सङ्गीत के सब स्वरों से ऊँचा और शक्तिशाली होता है।

दुख और सुख में भी साम्य बनाना चाहिये। दुख का सर्वथा परित्याग असंभव है।

दुख भी जीवन का अनिवार्य अंग है। उससे बिल्कुल अछूता रहना असम्भव है।

कर्मभोग में सुख के साथ दुख भी अपने क्रम से आएगा ही। जो उसे शांति से झेल लेगा वही सुख का अधिकारी बनेगा, अन्यथा दुख का प्रवाह जीवन को बहाकर ले जायगा।

सुख-दुख दोनों में समभाव रहना ही सच्चा कर्मयोग है। हम प्रायः दुखों का अतिरंजित चित्रण करते हैं।

कष्टों के अतिरंजित चित्रण से किसी की सहानुभूति न मिलेगी। यह अतिरंजित चित्रण अनिष्टकर है। ऐसे चित्रण से किसी की सहानुभूति नहीं मिलती। हमारे बन्धु-बान्धव, और निकट के व्यक्ति भी हमें कष्ट का अतिरंजन करते हुए देखकर हमारा परित्याग कर देते हैं।

कल्पित चित्र सदैव वास्तविक से भयंकर होता है। कल्पना का दुख भी वास्तविक दुख से कई गुना अधिक होकर सामने आता है।

तुम जब समय-असमय अपने छोटे दुख को बड़ा करके मानोगे तो उसकी चर्चा भी करते रहोगे। इस चर्चा से तुम्हें तो कोई सन्तोष नहीं मिलेगा, लेकिन तुम्हारे मित्र अवश्य तुम्हारे साथ उठना-बैठना छोड़ देंगे। कोई व्यक्ति किसी के दुख की बातों में दिलचस्पी नहीं लेता। थोड़ी देर के लिए लेता भी हो तो दिखावटी लेता है।

किसी की शाब्दिक सहानुभूति मिलेगी भी तो वह भी तुम्हें दयनीय मानकर मिलेगी। मैं नहीं समझता कि किसी का दयापात्र होकर तुम किसी से देर तक सच्ची सहानुभूति पा सकते हो।

जीवन में जब एक बार किसी के दयाभागी बन जाओ तो उसके सम्मानपूर्ण उदारभावों से तुम सदा के लिए वंचित हो जाओगे।

कष्टों को हँसते-हँसते झेलोगे तो पता भी नहीं लगेगा कि वे कब आये और कब गये। जिस तरह बिना पूर्व सूचना के कष्ट आते हैं उसी तरह सुख भी अनियन्त्रित ही आ जाते हैं।

सुख और दुख दो तत्वतः भिन्न भावनाएं नहीं हैं। दुःख के शुद्ध, नग्न रूप का नाम ही सुख है।

हमारे अन्दर का वह तालाब जिसमें कभी-कभी सुख की हिलोरें आती हैं, प्रायः हमारे ही आँसुओं से भर जाता है।

आज जो पात्र अंगूरों की मदिरा से छलक रहा है कल वही आग की भट्ठी में तप रहा था।

सुख के क्षणों में यदि हम हृदय के गहरे कुएं में रूप देखने को झुकें तो देखेंगे कि आज जिस छवि पर मुग्ध हो रहे हैं कल उसका ही तिरस्कार किया था।

सुख को दुःख से श्रेष्ठ मानना भी भारी भूल है—दोनों साथी हैं, अभिन्न मित्र हैं।

किन्तु हम सुख-दुख दोनों से जुदा हैं। हमें यह शोभा नहीं देता कि हम सुख-दुख के बीच सदा तराजू के पलड़ों की तरह तुले रहें।

जब हम सर्वथा रिक्त होते हैं तभी हमारे पलड़े सर्वथा सुसंयत और संतुलित होते हैं।

इसमें तभी उतार-चढ़ाव आए जब जगत का स्वामी स्वयं अपना स्वर्ण तौलने को हमें अपने हाथों से उठाए।

दुख का ही दूसरा नाम अज्ञान है।

अज्ञान के आवरण को दूर करने में भी कष्ट होता है। किन्तु यह कष्ट दुख का कारण नहीं होना चाहिये।

इस परिवर्तन में भी वही रोमांच है जो ऋतुओं के परिवर्तन में होता है।

दुख एक कड़वी औषधि की तरह है जिसके द्वारा तुम्हारे अन्दर का वैद्य तुम्हारी रुग्ण आत्मा का उपचार करता है।

इस वैद्य पर श्रद्धा रखकर उपचार होने देना चाहिये।

अतः दुखों का भी, उन्हें जीवन का अनिवार्य अंग मानकर, स्वागत करो। दुख प्रायः सुख की भूमिका में आते हैं। उन्हें शान्तिपूर्वक बर्दाश्त कर लोगे तो वही सुखों की सृष्टि करेंगे। संयत मन से उन्हें सहन कर लेना ही पुरुषार्थ है, और दोनों का समन्वय कर लेना ही बुद्धिमत्ता है।

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों भावनाओं के समन्वय की आवश्यकता है। इस समन्वय में ही संयम का उद्देश्य सिद्ध होता है।

मनुष्य दो विरोधी तत्वों से बना होता है। द्वन्द्व ही जीवन का धर्म है। इन द्वन्द्व विरोधी गुणों के सम्यक् समन्वय से ही

जीवन का रथ चलता है। सफल वही है जो इन दोनों का उचित समन्वय कर सके।

ये द्वन्द्व मनुष्य-जीवन के सब क्षेत्रों में रहते हैं। मनुष्य अन्तर्मुखी भी है, बाह्यमुखी भी। इस समन्वय का एक अचूक उपाय है। अन्तर्मुखी होकर मनुष्य अपनी अन्तःशक्तियों का संवर्धन करे और बहिर्मुखी होकर उनका सद्व्यय करे।

यह संग्रह व्यर्थ हो जाता है यदि उसका अपव्यय व्यर्थ के श्रम में होता रहे। व्यर्थ के ये श्रम भी निष्कारण नहीं होते।

मनुष्य की कार्यक्षमता को जब पूरे साधन न मिलें और साधनों के अभाव में स्वाभाविक गति न मिले तो वह व्यर्थ के श्रम में प्रगट पाने को अधीर हो उठता है। जिस तरह बंधा हुआ पानी मर्यादा तोड़कर बाहर फूट पड़ता है उसी तरह वह मनुष्य भी कुछ-न-कुछ कर गुजरने की ठान लेता है।

ऐसे बांध तोड़कर होने वाले काम कभी उपयोगी नहीं होते, न मनुष्य के लिए ही, न समाज के लिए ही। न ऐसे कामों से मनुष्य को सन्तोष मिलता है। ऐसे काम प्रायः विनाशात्मक होते हैं, क्योंकि रचनात्मक कार्यों में बहुत संतुलन और धैर्यपूर्वक निर्माण की आवश्यकता होती है, जो इन अतिशय वेगवान कामों में नहीं होती।

आजकल ऐसे वेगोन्मादी कार्यों की संख्या बहुत बढ़ रही है। अमेरिका के कोटि-कोटि डालर इन्हीं व्यर्थ के कामों में खर्च हो रहे हैं। इनसे राष्ट्र की सम्पत्ति का अपव्यय हो रहा

है, और मानव-शक्ति भी निरर्थक दुःसाहसों में नष्ट की जा रही है ।

कुछ कर गुजरने की प्रेरणा हमें अपनी उस स्वभावगत अधीरता से भी मिलती है जो कुछ क्षणों में ही समस्त जीवन के भोग हस्तगत कर लेना चाहती है । जीवन को इस प्रकार एक फलझड़ी मानकर उसे क्षण भर में जलाकर नष्ट करने में ही आनन्द लेने की वृत्ति मन की अत्यन्त हीन और विकृत अवस्था है । जिन्दगी को जुआ मान दाव पर लगा देना जुआरी का काम है, स्वस्थ व्यक्ति का नहीं । इस जुए की बाजी में मनोरथ पूरा होने पर शांति नहीं मिलती, क्योंकि एक मनोरथ दूसरे बड़े मनोरथ को जन्म देता है और यह शृंखला कभी टूटती नहीं । अतृप्ति की खाई गहरी ही होती जाती है ।

अतः हमें अच्छे कामों में भी संयम और सन्तुलन से काम लेना चाहिये ।

यह सन्तुलन मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में भी आवश्यक है । दोनों पक्ष विरोधी नहीं हैं । हमें तुलना करते हुए किसी को श्रेष्ठ-निकृष्ट नहीं मानना चाहिये ।

महान वैज्ञानिक भी महान अध्यात्मवेत्ता ऋषियों से कम नहीं । विज्ञान ने हमें ईश्वर की सच्ची महत्ता और हमारी अपनी लघुता का आभास दिया है । अपनी लघुता का ज्ञान हमें तभी होता है जब हम इस विराट विश्व की एक झलक अपनी बौद्धिक आँखों द्वारा देखते हैं ।

विज्ञान से हमें पार्थिव सत्य का साक्षात् होता है। विज्ञान बताता है कि जीवन का आनन्द इन्हीं पार्थिक तत्वों को ठीक तरह समझने में है। विज्ञान हमें आध्यात्मिक रहस्य बताने में असमर्थ है, पर उन गूढ़ गहन रहस्यों की गहराई में जाने की हमें आवश्यकता भी क्या है?

उन रहस्यों को रहस्यमय ही रहने दो और अब इस पृथ्वी से, जहाँ तुमने जन्म लिया है, और इस पृथ्वी के लोगों से प्रेम करो। उन्हीं के लिए जियो और उन्हीं के लिए आत्मदान करने में ही जीवन की सार्थकता मानो।

८.

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्

हमारा काम ही हमें जीवन देता है

पुरुष-जीवन यज्ञ है, यज्ञमय है।

यज्ञ कर्ममय जीवन का प्रतीक होता है।

जगत के इस विशाल यज्ञ में हम अपने कर्म द्वारा अपने भाग की समिधा अर्पित करते हैं। अपने भाग की हवि देकर ही हम इस यज्ञाग्नि को प्रज्वलित रखते हैं।

वेद ने कहा है : 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'—अपनी हवि से हम परमदेव की अर्चना करते हैं।

उपनिषदों ने कहा है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'—कर्म करते हुए ही हम सौ वर्ष जीने की इच्छा करें।

कर्म और ज्ञान एक ही यज्ञ के दो रूप हैं। शास्त्र कहते हैं—'प्राणो वै प्रज्ञा' प्राण ही प्रज्ञा है, कर्म ही प्रज्ञा है। कर्म बिना बुद्धि का कुछ अर्थ नहीं।

प्राण और प्रज्ञा, कर्म और ज्ञान से ही यह जीवन बना है।

आज के महान चिन्तकों ने भी इस बात को बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। महान विचारक रस्किन ने कहा है :

'मनुष्य के श्रम का सर्वोच्च पारितोषिक उससे उपलब्ध पुरस्कार नहीं, बल्कि उसका सम्पूर्ण जीवन है।'

अमरीका के कुबेर हेनरी फोर्ड के अनुसार 'हमारा काम हमें जीने का उपकरण ही नहीं, बल्कि स्वयं जीवन प्रदान करता है।'

चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक-लेखक लिंग चू ताँग का कहना है कि 'वास्तविक आनन्द उसे ही प्राप्त होता है जो अपना काम उचित रीति से करता है। कुछ भी नहीं करने से कुछ भी करना श्रेष्ठ है।'

नेहरूजी ने अपनी 'आत्मकथा' में जीवन की सार्थकता कर्मशील जीवन में बतलाई है। आप लिखते हैं—'काम के भार से मैं अपने शरीर और मस्तिष्क की स्फूर्ति कायम रख पाता हूँ।' काम केवल मनोरंजन, जीवन-यापन का साधन, स्वास्थ्य और सुख का ही कारण नहीं, वह मनुष्य की महानता की नींव है। काम अपने अनुयायियों को महानता के पथ पर ले जाता है। यदि तुम जीवन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने के इच्छुक हो तो इस कथन को कभी न भूलो : 'जो कर्म करता है, वही जीवित रहता है।'

दुर्भाग्य की बात है कि आज अपने निर्धारित काम से सन्तोष पानेवाले व्यक्ति बहुत कम हैं। अधिकांश व्यक्तियों को जीवन भार-स्वरूप लगता है।

हम मनोरंजनों में ही जीवन का रस लेते हैं। काम और मनोरंजन में अन्तर मानकर हमने समझ लिया है कि काम वह है जो हमें करना ही पड़ता है और मनोरंजन वह है जो हम अपनी खुशी से करें।

यह बात सच नहीं है। आनन्द निर्धारित कार्य की सिद्धि के निमित्त जीवन-शक्ति के उपयोग में ही है। काम ही आनन्द का स्रोत है। उपनिषदें कहती हैं :—'आनन्दाद्येवखल्विमानि भूतानि जायन्ते' आनन्द से ही सम्पूर्ण चराचर जगत की उत्पत्ति होती है।

यहां, वहां और सर्वत्र आनन्द का केवल एक ही माध्यम है और वह है सृजन-श्रम। इस सृजन-श्रम का ही दूसरा नाम यज्ञ है। सृजन के अन्य सुख छायामात्र हैं, चाहे वह सृजन शरीर के प्रसंग में हो, या आत्मा के क्षेत्र में हो। सृजन-श्रम ही मनुष्य के जीवन को संघर्षों में डालकर मनुष्य बनाता है। यह श्रम एक ऐसा शिल्पी है जिसके सामने सर्वग्रासी काल ने भी सदैव अपनी हार मानी है।

श्रम केवल अस्थायी आनन्द का जनक नहीं है, शाश्वत ब्रह्मानन्द का साधक है। श्रम से अर्जित लाभ ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कराता है। यही वह मन्दिर है, देवस्थान है, जहां मन की सचाई है, मन और कर्म की एकता है, अपने ही किए हुए कर्म के लाभ से सन्तोष है, परमार्थ में सब कुछ दे देने की चाह है।

जीवन का अर्थ समझना हो तो श्रम के दिव्य स्वरूप को पहचानना चाहिये। तभी हम अपने मन की अन्धेरी कोठरियों को श्रम के प्रकाश से भर सकते हैं। हमारे मुर्झाये हुए अंग श्रम की ऊष्मा पाकर नवीन कर्म के लिए पुनः अनुप्राणित होते हैं। तभी आनन्दमय श्रम में थकान नहीं आती।

'उपयोगी और श्रमपूर्ण कार्य, उत्कर्ष, आनन्द और शक्ति प्रदान करने वाला होता है।'

नेहरूजी अथक श्रम करते हैं, फिर भी सदा-सर्वदा ताजा रहते हैं। इस चमत्कार का कारण बतलाते हुए नेहरूजी ने कहा है : 'लोग आकर मुझसे कहते हैं : इतना श्रम न करो, विश्राम करो, तुम काफी सोते नहीं हो। मैं उन्हें कहता हूँ, श्रम ही जीवन है, कठिन श्रम से आजतक कोई नहीं मरा। श्रम करने वाला अच्छे उद्देश्य के लिए जी लगाकर काम करे तो उसे प्रतिक्षण नया जीवन मिलता है।'

जो जीवन देता है उसे जीवन मिलता है, यही जीवन का सबसे बड़ा रहस्य है। जीवन केवल एक रूखा ढर्रा या कठोर परिश्रम ही नहीं है। श्रम का सर्वोत्तम पारितोषिक श्रम से

उपलब्ध पारितोषिक नहीं बल्कि चरित्र है जो श्रमिक को प्राप्त होता है। हमारा श्रम, या काम, हमारे जीवन का साधन ही नहीं, बल्कि स्वयं साध्य है।

आत्म-साक्षात्कार का भी एक ही मार्ग है—कर्म। पहले हम अपने को, अपने कर्ममय जीवन को पहचानते हैं, अपने अंदर उसका साक्षात्कार करते हैं। तब आत्मा से साक्षात्कार होता है। कर्म का अनुष्ठान ही पूजा की विधि है, यही परम तप है और यही परम पूजन है।

जो कार्य मनुष्य के क्षण-क्षण के श्रम से विकसित नहीं हो, जो साँस बनकर आत्मा में समा न जाय, जो पसीने की बूँदों से अपना अभिषेक न करे, वह निष्फल है, चाहे वह भगवद्भजन ही क्यों न हो।

श्रम या कर्म भी धर्म के ही अंग हैं।

हमारे होने वाले जीवन के कार्य ही हमारी तीर्थ-यात्रा हैं और वही हमारा धर्म है।

तीर्थयात्री को अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार होकर ही इस यात्रा को प्रारम्भ करना चाहिये।

हमारे हल, हमारी हथौड़ियां और हमारे हाथ की वीणा, सभी उस तीर्थयात्रा के पाथेय हैं। सभी उपकरणों के प्रयोग से जीवन समृद्ध बनता है।

धरती, आकाश, और विश्वाकाश की गति के साथ गतिमान रहकर ही जीवन बिताया जाता है।

श्रम में मन लगाना ही जीवन से प्रेम करना है। श्रम द्वारा ही हम जीवन के रहस्यों तक पहुँच सकते हैं।

श्रम का अर्थ ही प्रेम को मूर्त रूप देना है।

जीवन की सार्थकता निरन्तर प्रयत्न में है। जीवन यज्ञ की अखण्ड ज्योति में निरन्तर आहुति पड़नी चाहिये। उसमें व्यवधान नहीं आ सकता। यह सार्थकता फल में नहीं अपितु कर्मण्यता में है, और उस पुरुषार्थ में है जो कि एक-एक पग की प्रगति एवं एक-एक इंच के उत्कर्ष का आनन्द लेता है। वास्तव में उत्कर्ष के प्रयत्न का सुख अपने-आप में ही इतना मधुर और सुखद होता है कि कल्पित लक्ष्य तक पहुंचने का प्रलोभन उसके आगे फीका पड़ जाता है।

लोकमान्य तिलक भी अनवरत प्रयास में, जीवन-यज्ञ में निरन्तर आहुति अर्पित करते रहने में, जीवन की सफलता देखते थे। वे इसे ही जीवन की साधना मानते थे। उन्होंने लिखा है : 'संसार में एक ही वस्तु को मैं परम पवित्र मानता हूँ, वह है मनुष्य का अपनी प्रगति के लिए अनवरत प्रयास। मानव मात्र के प्रति निश्छल प्रेम-भाव रखते हुए और ईर्ष्या-द्वेष आदि भावनाओं की कलुषित छायाओं से दूर रहकर, निष्काम भाव से श्रमरत रहने की भावना ही जीवन की सर्वोच्च साधना है।'

अनवरत प्रयास अनवरत आहुति देने के समान है। उसमें व्यवधान नहीं आना चाहिये। प्रायः अन्तिम सीढ़ी के बाद ही हमें मंज़िल मिलती है। इसकी पुष्टि के लिए एक लोक-कथा प्रचलित है:—पत्थरों में हीरे-माणिक खोजने वाला थकान से चूर और असफलता से हताश हुआ एक व्यक्ति नदी की सूखी तलहटी में एक चट्टान के सहारे बैठ गया और दुखी होकर अपने साथियों से बोला—"मैं तो अब इस खोज से बिल्कुल हताश हो गया हूँ। अब तक मैंने ९९९९९ पत्थर तो बटोर लिये होंगे, पर इनमें हीरे का एक कण भी नहीं मिला।"

उसके एक साथी ने परिहास में कहा—"भाई, एक पत्थर और बटोर लो, और अपने पत्थरों की संख्या पूरी एक लाख करलो।" उसने उत्तर दिया "अच्छा,एक पत्थर और उठाऊँगा।"

उसने एक और पत्थर उठाया, जो साधारण पत्थर से अधिक वज़नदार था। ध्यान से उस चमकदार पत्थर की ओर देखकर वह खुशी से चिल्ला उठा: "साथियो, यह तो हीरा है, हीरा। शायद हमें हीरे की खान मिल गयी है।"

कर्म एक निरन्तर साधना है, उसमें संयोग या अकस्मात् उपलब्धि का कोई अवकाश नहीं। बड़े-बड़े कर्मठों ने ही नहीं, महान् आध्यात्मिक गुरुओं ने भी अपनी निरन्तर साधना से ही आध्यात्मिक क्षेत्र में महत्त्व का स्थान पाया।

बचपन में ही रमण ने अपने जीवन का एक लक्ष्य बना

लिया था। उसी दिशा में उन्होंने निरन्तर परिश्रम किया। यही है सूत्र-रूप में उनके जीवन की कहानी। हर क्षेत्र में उन्होंने अपनी एक मर्यादा स्थापित की और उसे निभाकर अपनी वैयक्तिक मर्यादा बढ़ाई। अपने लक्ष्य के समीप पहुँच कर भी उनकी साधना शिथिल नहीं हुई थी।

वे निरन्तर एक ही मार्ग पर चलते रहे। महापुरुष समय के एक-एक क्षण का उपयोग करते हैं, वे प्रमाद नहीं करते, तभी उनकी गति में प्रवाह आता है।

सामान्य व्यक्ति प्रमादवश अपने समय का पूरा उपयोग नहीं करते। जो क्षण उन्हें मिलते हैं उनमें से कुछ का ही उपयोग करते हैं, शेष व्यर्थ खो देते हैं। यह समय का अपमान है और समय देने वाले विधाता की भी अवहेलना है।

समय बड़ा कीमती धन है। समय कल्पवृक्ष है। पलक मारते ही यह कल्पवृक्ष लुप्त हो जाता है। इस कल्पवृक्ष को दोनों बाहों में पकड़कर रखो, और उसके सारे अमूल्य फलों का आस्वादन करो।

दैनिक जीवन में हम लोग बहुत-सा समय व्यर्थ नष्ट कर देते हैं। "वक्त-काटना" एक मुहावरा ही बन गया है। पर हम समय के साथ कैसा भी व्यवहार करें, वह हमारे साथ कोई शील-संकोच नहीं करता। जो गया, सो गया। क्रिया-शीलता की घड़ी एक बार जाकर, जब चली जाती है तो फिर कभी वापस नहीं आती, और उस घड़ी को खो देने पर जब

थकान आती है तो वह अन्त समय तक नहीं छोड़ती। वस्तुतः समय का सदुपयोग ही संतुलित जीवन की कुंजी है।

प्रमाद से अपने को बचाकर रखना, सफलता की सबसे बड़ी कुन्जी है। कल वस्तुतः शैतान का दूत है। इस ढील देने की प्रवृत्ति के कारण 'कल' की असि-धार ने इतिहास में न जाने कितने प्रतिभावानों का गला काटा होगा। इस भागते हुए समय को अपनी जागरूकता से कसकर पकड़ रखो, ताकि उसकी गति ही धीमी हो जाए। जितनी तेजी और जागरूकता से तुम काम करोगे, समय की गति तुम्हारे लिए उतनी ही धीमी हो जाएगी।

जीवन में समय-पालन का महत्त्व बहुत अधिक है। इस की कभी उपेक्षा न करो। समय-पालन नियमित और पूर्ण जीवन का एक आवश्यक अंग है और जीवन की संस्कारगत महानता का सूचक है। समय को मूल्यवान् मानने का अभ्यास डाल लेना चाहिये। यह अभ्यास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध होता है। प्रत्येक काम समय पर करना मानसिक चेतना का परिचायक है।

हम प्रकृति से समय-पालन का सबसे बड़ा पाठ सीख सकते हैं। इस महान ब्रह्मांड का प्रत्येक ग्रह नक्षत्र कितने निश्चित समय में अपनी खगोल यात्रा को पूरा करता है। हमें भी अपने छोटे से कार्य-काल में जीवन-यात्रा पूरी करनी है, इस यात्रा में सैकड़ों संघर्षों में पूरा उतरना है।

जीवन के अनन्त होने के कारण यह जीवन-यात्रा कभी पूर्ण नहीं होगी, देह त्याग के बाद भी। अपूर्णता इसका धर्म है। इसलिए जीवन सदा एक अधूरे चित्र के समान रहता है। हम इसे अपने पुरुषार्थ से भरते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यह रूपरेखा अधूरे चित्र के रूप में मिली है। हम इस अधूरे चित्र को सीमित योग्यताओं के कारण पूरा नहीं कर पाते। फिर भी कुछ ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति अवश्य आते हैं जो हम से भी अधिक बाधाओं के रहते हुए भी अपने अधूरे चित्र को हमसे अधिक सुन्दर रूप में पूरा कर लेते हैं। यह संयोगवश नहीं होता। नियति उनके प्रति तुमसे भी अधिक क्रूर रहती है, उन क्रूरताओं के होते हुए भी उन्होंने उग्र रूप से संघर्ष किया और इस प्रकार नियति को एक चुनौती दी।

इस यज्ञ की पूर्ति में पग-पग पर बाधाएं आती हैं। उन बाधाओं में ही यज्ञ का कार्य चलता है। वे बाधाएँ भी यज्ञ का भाग हैं। उनसे डरना कायरता है। बाधामय जीवन ही पूर्ण जीवन होता है। संघर्ष से ही जीवन का विकास सम्भव है। सर्वांगीण रूप से विकसित जीवन के यह अर्थ नहीं कि जीवन बिल्कुल शान्त और गम्भीर हो जाय, तथा उसमें संघर्ष रहे ही नहीं। सभी महान आत्माओं को आन्तरिक यंत्रणाएँ सहन करनी पड़ी हैं। फ्लोरेंस नाईटिंगेल को आत्माभिव्यक्ति के लिए दीर्घकाल तक संघर्ष करना पड़ा, प्रतीक्षा करनी पड़ी। ३१वें वर्ष उन्होंने अपनी डायरी में लिखा : 'इस वर्ष भी मुझे मृत्यु से प्रिय कुछ नहीं लगता।'

सभी महान् व्यक्तियों को संघर्ष और विरोध की ज्वाला में झुलसना पड़ा है। उनकी यह अग्निपरीक्षा प्रायः अज्ञात रही है। पर सब संघर्षों के बावजूद, उनके अन्दर एक जोत सदा जलती रही। एक निष्ठा के कारण वे अपना जीवन किसी उच्च ध्येय की पूर्ति के लिए समर्पित कर सके। शेक्सपीयर के इस कथन को याद रखो, 'यह जीवन-यात्रा नर-पुंगव कर्म-वीरों के लिए है, कायरों या कमजोरों के लिये नहीं।'—वीरभोग्या वसुन्धरा—।

वीरतापूर्ण और संघर्षमय जीवन ही अधिक पूर्ण होता है। कवि होते हुए भी रवीन्द्र को संघर्षमय जीवन पसन्द था। उन्होंने लिखा है :—

'अपनी सहानुभूति और प्रेम का दान देकर मेरी आत्मा को दुर्बल और परावलम्बी मत बनाओ। कठोर इन्कार और बेरहम आजादी में मुझे अकेला छोड़ दो। जीवन में भयंकर-तम निराशा के तूफानों को सहर्ष झेलते हुए वीरता-पूर्वक अपने उद्देश्य की प्राप्ति ही मुझे अधिक पसन्द है।'

नेहरूजी भी साहसी और संघर्षमय जीवन की सराहना प्रायः किया करते हैं। उनके इन शब्दों में बड़ी स्फूर्ति है :—

'इस विराट विश्व में सब कुछ ही तो अधूरा पड़ा है। साहसियों के लिए मंज़िल की कमी कब रही है ? मैं निराशा में यकीन नहीं करता। मुझे उम्मीद है, हालत बदलेगी। इन्सान की शक्ति में मेरी आस्था अडिग है, क्योंकि उसके दुबले-पतले शरीर में दिमाग नाम की एक बे-मिसाल चीज़ है जो कोई बन्धन स्वीकार नहीं करती, कभी हार नहीं मानती।'

इस कभी समाप्त न होने वाले कार्य का नाम ही यज्ञ है। यह यज्ञ मनुष्य की पहली साँस से अन्तिम साँस तक चलता है। हमारी हर साँस इस यज्ञ में आहुति बनकर अर्पित होती है।

इसी पुण्यभावना से यह दिव्य यज्ञ पूर्ण होता है। हम यज्ञ-मय बनते हैं।

यज्ञ की हवि भी उतनी ही पवित्र और दिव्य होती है जितना स्वयं यज्ञ होता है।

मिष्टान्न का आनन्द मिष्टान्न में नहीं, रसना की अनुभूति की शक्ति में होता है। अतः आत्माहुत होने से पूर्व आत्महवि को पवित्र कर लो।

यह पवित्रता मन को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करने से ही सिद्ध होगी।

किसी भी विषय का आनन्द विषय में नहीं बल्कि उसे अनुभव करने वाले की वृत्ति में है और उस वृत्ति के अधिष्ठाता तुम स्वयं हो। तुम जब और जैसा चाहो उसकी दिशा मोड़ सकते हो।

मन का वेग अन्तरात्मा की तरफ मोड़ लो। अन्तरात्मा का अपना क्षेत्र है। उसका अधिष्ठाता हमें कुछ आदेश देना चाहता है। उसका आदेश सुनो। बाहर का द्वार बन्द करके ही तुम वह सुन सकते हो। इस अभ्यास को सिद्ध कर लोगे तो मन कभी बाह्य विषयों में नहीं उलझेगा। तुम्हारा विवेक सदा जाग्रत रहेगा, तुम मन के गुलाम नहीं बनोगे, बल्कि उसके स्वामी

बन जाओगे और अपने विवेक से उसे जिधर चाहोगे मोड़ सकोगे। इसी स्वावलम्बन में सुख है। बड़े-बड़े सम्राट दुनिया को जीतकर आनन्द लेते हैं, वही आनन्द साधारण से साधारण आदमी अपने को जीतकर ले सकता है क्योंकि, जिसने अपने को जीत लिया वही सच्चा विजयी है।

अन्तर्मुखी होकर हम अपने को अनगिन संघर्षों के प्रहार से बचा लेते हैं।

यज्ञ के विघ्न और संघर्ष भी यज्ञ के ही भाग हैं।

इन संघर्षों से, विघ्नों से यज्ञाग्नि और भी प्रज्वलित होती है।

तीव्र धारा में तैरने वाले की गति में ही वेग होता है।

जिसका कोई विरोधी नहीं, उसका कोई मित्र भी नहीं होता। केवल निष्कर्म, निष्प्रभाव व्यक्ति ही निर्विरोध हो सकते हैं।

भूलें भी उसी से होंगी जो कुछ करेगा—जो जितना कार्य करेगा उतनी ही भूलें करेगा। भूलों से ही सफलता के नये मार्ग बनते हैं।

भूलों को लाभ के रूप में बदलने का प्रयत्न करना चाहिये। कभी-कभी हम चाहते कुछ हैं और हो जाता है कुछ और। एक आदमी के बारे में मैंने पढ़ा था कि उसने एक नयी शैली के स्टोव का निर्माण करना चाहा। वह स्टोव तो बन नहीं सका, पर उसने उसमें कुछ सुधार करके उसे आसव

बनाने का यन्त्र बनाकर बेच दिया। कोलम्बस भारत की खोज में निकला था, पर पहुंच गया अमरीका। हमारे दैनिक जीवन में भी ऐसा ही होता है। हम किसी नौकरी के लिए प्रयत्न करते हैं और नहीं मिलती है तो निराश हो जाते हैं, पर तुरन्त ही हमें उससे भी बढ़िया नौकरी मिल जाती है। यदि हमें पहली नौकरी मिल जाती तो दूसरी का अवसर कैसे मिल पाता ? इसलिए प्रत्येक भूल और निराशा को हमें प्रगति-सोपान की एक सीढ़ी मानना चाहिये।

तुम अपनी निराशाओं से इतने अधिक निराश नहीं होगे, यदि तुम यह याद रखो कि गलत प्रतीत होने वाली बातें, प्राय: ऐसा अप्रत्याशित मोड़ लेती हैं कि तुम्हारे सामने सफलता के नये द्वार खुल जाते हैं।

कटु आलोचना सुनकर अशान्त न बनो। मन का सन्तुलन स्थिर रखो।

यदि कोई जानबूझकर तुम्हारा अपमान भी करे तो भी उसके कारण अपने मन को कष्ट पहुंचाकर उसे या उसकी बात को महत्व मत दो। उस बात को तुरन्त भूल जाओ।

स्वयं कभी दूसरों के प्रति ऐसे आचरण न करो कि वे तिरस्कृत अनुभव करें। ऐसा करने पर लोग तुम्हें दम्भी समझेंगे और तुम्हारा तिरस्कार करने का प्रयत्न करेंगे। यदि तुम स्वयं दूसरों की उपेक्षा या अनादर नहीं करोगे तो दूसरे भी तुम्हारी उपेक्षा करने का साहस नहीं करेंगे।

अपनी प्रत्येक आलोचना से चिढ़ो मत। आलोचना से यदि तुम्हारी ऐसी त्रुटियों पर प्रकाश पड़ता है जिन्हें तुम स्वयं नहीं देख सकते तो बुरा मानने के स्थान पर आलोचक के प्रति कृतज्ञ बनो। वह तुम्हें अपने दोष दूर करने का अवसर देता है।

आलोचना से भय तो उन्हें होता है जिनमें आत्मविश्वास नहीं होता। जब तक तुम में सन्तुलित बुद्धि, कार्यनिष्ठा और आत्मविश्वास नहीं होगा,तुम आलोचना से अस्थिर बनोगे किन्तु यदि तुम्हारे अन्दर आत्मविश्वास होगा तो तुम समझ लोगे कि आलोचनाओं के ये प्रहार तुम्हारे जीवन-संग्राम में होने वाले ऐसे आक्रमण हैं जो तुम्हारी शक्ति बढ़ाते रहते हैं।

किसी विरोधी आलोचना के होते ही मन में आलोचकों के प्रति विद्वेष जाग्रत होना स्वाभाविक है, किन्तु सभी स्वाभाविक प्रवृत्तियां हमें कल्याण-मार्ग की ओर नहीं ले जातीं। हमें उनका संयम करना पड़ता है अन्यथा ये सहज नैसर्गिक प्रवृत्तियां हमें विनाशात्मक कार्यों की प्रेरणा देती हैं। हमारी आत्मा में जाग्रत विवेक यदि इन स्वाभाविक, मानसिक प्रतिक्रियाओं का संयम न करे और हमारा जीवन उन्हीं प्रतिक्रियाओं से प्रभावित होता रहे तो हम रचनात्मक कार्य नहीं कर सकेंगे। हमारे भावावेश सदा विनाशोन्मुख बने रहेंगे।

जो व्यक्ति इन विरोधी आलोचनाओं से विचलित नहीं

होते, उनके लिए आलोचनाएं वरदान बन जाती हैं। उनसे उन्हें आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा मिलती है। इसलिए स्वस्थ प्रकृति मनुष्य वही है जो आलोचक को अपना मित्र मानता है।

उसकी आत्मा से निकले कृतज्ञता के भाव प्रायः उसके आलोचक को भी प्रभावित करते हैं। आलोचक भी उसका मित्र बन जाता है और उस मैत्री से आलोचक व्यक्ति को और भी बल मिलता है।

संघर्ष में ही गति है। रथ के पहियों को यदि पृथ्वी का अवरोध न मिले तो वे आगे नहीं बढ़ सकते।

आलोचकों की बात सुनने का यह अर्थ नहीं कि तुम उनकी बातों पर विश्वास कर लो।

कुछ लोग तुम्हें सदैव निरुत्साहित करते रहेंगे, किसी-न-किसी युक्ति से तुम्हें मार्ग से हटाने की कोशिश करेंगे। बहुत से आलोचक तुम्हें मिलेंगे जो तुम्हारी अक्षमताओं को बढ़ा-चढ़ाकर बतायेंगे और तुम्हें उस कार्य के सर्वथा अयोग्य सिद्ध करेंगे।

यदि तुम्हारी अन्तरात्मा भी वैसी ही गवाही दे तो उनकी बातें स्वीकार करने में तुम्हें लज्जा अनुभव नहीं होनी चाहिए। क्योंकि यदि तुम्हारी आत्मा तुम्हारा समर्थन करे और तुम्हारे अपनाये मार्ग को ही सच कहे तो तुम इन आलोचकों की परवाह किये बिना अपने रास्ते पर बढ़ते ही जाना।

आलोचक प्राय: बाह्य व्यवहार को ही देखते हैं। बिथोवन के बाह्य व्यवहार एवं वेशभूषा में जितनी अस्त-व्यस्तता थी उसकी अन्तरात्मा में उतनी ही व्यवस्था और समरसता व्याप्त थी।

संगीत के लिए यही व्यवस्था और समरसता आवश्यक है। उसके बाह्य आचरण इस आन्तरिक व्यवस्था की साक्षी नहीं देते थे। लेकिन उसके सङ्गीत की सफलता ने सिद्ध कर दिया कि बहुत बार बाह्य आचरण आंतरिक स्थिति के सर्वथा विपरीत होते हैं।

आलोचकों की चिन्ता न करके, केवल अन्तरात्मा से पूछना चाहिये। वह साक्षी दे तो अपने मार्ग पर कदम बढ़ाते जाना चाहिये।

साधारण व्यक्ति जिस रास्ते में एक भी रुकावट आए, उसे बदल लेते हैं, यह ठीक नहीं।

सच्ची लगन वही है जो अपने ही मार्ग पर स्थिर रहती है। विरोधी शक्तियों को देखकर जो लगन और भी तीव्र हो जाय, उसे दिव्य लगन ही मानना चाहिये।

जितना बड़ा विरोध हो उतनी ही तुम्हारी हिम्मत बढ़ जाय, तभी यह समझो कि तुम सच्चे रास्ते पर हो।

जीवन के संघर्षों में हम तभी सफल होंगे यदि हमारे अन्दर आत्म-विश्वास के आाथ आत्म-स्वीकृति का, अपनी त्रुटियों को स्वीकार करने का, गुण होगा।

आत्म-स्वीकृति से एक बड़ा सृजनात्मक लाभ यह है कि उससे आत्म-सुधार करने की प्रवृत्ति मजबूत होती है। डेमास्थनीज एक महान वक्ता बनना चाहता था, पर उससे पूर्व, उसे यह स्वीकार करना पड़ा कि वह हकलाता है। और उसकी यह स्वीकृति कि वह हकलाता है, उसके महान् वक्ता बनने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम था। यह कहना कि डेमास्थनीज, हकलाने के बावजूद, महान वक्ता बना, मेरे विचार से पूरा सत्य नहीं। मैं इस बात को इस प्रकार कहना चाहूँगा—डेमास्थनीज, हकलाने के कारण, महान् वक्ता बना।

अपने व्यक्तित्व की उस विशेषता को ही, जिसके कारण तुम्हारे अन्दर हीन भावना ने जन्म लिया है, प्रायः व्यक्तित्व के विकास का हेतु बनाया जा सकता है। यदि तुम्हारा स्वभाव शर्मीला है तो भले ही तुम सामाजिक उत्सवों में सफल न बन सको, पर अनुसंधान कार्य में अवश्य सफलता प्राप्त कर सकते हो।

इस प्रकार की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि आत्म-स्वीकृति पर ही संतोष करके न बैठा जाय, बल्कि आत्म-विकास की दिशा में एक दृढ़ कदम भी उठाया जाय। यह स्वीकार करके ही न रह जाओ कि मैं यह हूं, बल्कि इससे आगे बढ़कर यह भी कहो कि अब इसके बाद मैं यह बनना चाहता हूँ।

अमरीका के एक कैप्टेन जान कैलेण्डर ने एक युद्ध में कायरता दिखायी थी। तत्कालीन अमरीकी प्रेसीडेंट जार्ज वाशिंगटन ने फौजी अदालत द्वारा उसके कोर्ट मार्शल का आदेश दिया। कैलेण्डर अपने पद से त्यागपत्र देकर सेना में पुनः एक साधारण सिपाही के रूप में भर्ती हो गया और अगली लड़ाई में उसने जिस साहस का प्रदर्शन किया, उससे प्रसन्न होकर वाशिंगटन ने न केवल उसे क्षमा प्रदान की, बल्कि उसे उसके पूर्वपद पर भी नियुक्त कर दिया।

आत्म-स्वीकृति का एक बड़ा लाभ यह होगा कि तुम्हारे बहुत से काल्पनिक भय आप ही आप दूर हो जाएंगे। हम सब ऐसे बहुत से काल्पनिक भयों से भयभीत रहते हैं, जिनका कोई आधार नहीं होता। अर्थाभाव होना, कुरूप होना, शिक्षा-विहीन होना, आदि ये सब ऐसी बातें हैं, जो हमारी प्रगति की राह में बाधक बन सकती हैं, पर तभी, जबकि हम उन्हें बनने दें। यह हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। यदि हम स्वयं उन्हें बाधक नहीं मानते, तो संसार की कोई शक्ति उन्हें हमारे लिए बाधक नहीं बना सकती। मैं एक ऐसे

आदमी को जानता हूं जो सिर्फ इसलिए अपने जीवन में सफल नहीं हो सका, कि उसे यह भय रहा कि उसके शरीर पर अधिक बाल न होने के कारण उसमें पुरुषोचित गुणों की कमी है। इसके विपरीत ५ फिट २ इंच लम्बाई वाले नेपोलियन ने, जो अपनी कक्षा में सबसे पिछड़ा विद्यार्थी था, अपनी इन खामियों को खुली आंखों स्वीकार किया, और इन्हें ही अपने महान् विजेता बनने का कारण बनाया। जिसे तुम बदल नहीं सकते, जिसमें सुधार-संशोधन नहीं कर सकते, उसकी चिन्ता करने से भी क्या लाभ ?

और जिसे तुम सुधार सकते हो, उसकी भी चिन्ता क्या ? उसे स्वयं सुधार लो।

अपने व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास के लिए अपने से पूरी तरह और अच्छी तरह परिचय प्राप्त करो। अपने से कहो : मैं अमुक नाम का व्यक्ति, आज अपने को पूरी तरह और अच्छी तरह स्वीकार करता हूँ। मैं जो हूँ, अपने सब गुणों, दोषों और न्यूनताओं के साथ, जैसा भी हूँ, किसी छलकपट के बिना अपने सामने हूँ, और अब मुझे देखना यह है कि अमुक नाम के इस व्यक्ति से मुझे किस प्रकार काम चलाना है।

इमर्सन के इन शब्दों पर ध्यान दो : 'प्रत्येक व्यक्ति को कभी न कभी इस बात का स्वयं भान होता है कि ईर्ष्या करना अज्ञानता है, नकल करना आत्महत्या करने के समान है,

और उसे स्वयं को, जैसा वह है, उसी रूप में स्वीकार करना चाहिए।'

अमरीका का एक रेडियो-कलाकार, जो प्रतिदिन रेडियो पर अपने संगीत द्वारा असंख्य सुनने वालों का मनोरंजन करता, निपट अन्धा है। हम निपट अन्धे व्यक्ति की कल्पना करते ही, मन ही मन उस पर रहम करने लगते हैं। हमारे विचारानुसार ऐसा व्यक्ति कभी अपने अन्धेपन की खाई को पारकर, अन्य व्यक्तियों की भाँति नहीं जी सकता। पर न केवल निपट अन्धे, पर अन्य वे व्यक्ति, जिनके मार्ग में प्रकृति ने भीषण अवरोध और विघ्न उपस्थित कर दिये थे, साहस कर आगे बढ़े और उन्होंने अपने जीवन के ऋण के चिह्न को धन के चिह्न में बदल कर दिखाया। मानव-इतिहास में ऐसे व्यक्तियों की जीवन-कथाओं से अधिक प्रेरक कथा पढ़ने को नहीं मिलती।

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने एक बार एक लेख में लिखा था : 'हर आदमी दिन में कम से कम पांच मिनट के लिए तो मूर्ख होता ही है। बुद्धिमानी इसमें है कि इससे अधिक समय तक मूर्ख न रहा जाये।

कुछ समय तो मैं भी प्रसिद्ध लेखक डेल कार्नेगी की भांति एक डायरी रखता था, जिसमें अपनी मूर्खतापूर्ण बातों का उल्लेख करता था। इस डायरी को पढ़-पढ़कर मुझे बड़ा

लाभ होता था, अपनी मूर्खताओं से परिचित हुए बिना उन्हें दूर नहीं किया जा सकता।'

एक बड़ी कम्पनी के जनरल मैनेजर ने, जो स्टेनोग्राफर के पद से उठकर उस पद पर आये थे, एक बार मुझे अपनी सफलता का रहस्य बताया था। 'प्रतिदिन सोने से पहले मैं एक फाइल में उन लोगों के नाम लिख लेता हूं, जिन से मैं मिला था। फिर मैं अपने आपसे पूछता हूँ: इन सब लोगों से मिलते समय, मैंने क्या-क्या गलतियां की।' अगली बार मैं इन गलतियों को कैसे दूर कर सकता हूँ? यह आत्म-परीक्षण कभी-कभी बड़ा अप्रिय बन जाता है। पर जितना लाभ मुझे इससे हुआ है उतना किसी बाहरी ज्ञान से नहीं।'

मैं फिर कहता हूं कि यदि तुम ऐसा आत्म-परीक्षण आरंभ कर दो तो तुम्हें लगेगा कि यह बड़ा कठोर कार्य है। रमण महर्षि ने कहा था, 'दुनिया में तीन वस्तुएँ अत्यन्त कठोर हैं, फौलाद, हीरा और आत्म-परीक्षण।'

प्रतिकूल परिस्थितियों में भी स्वस्थ रहने का एक ही अचूक उपाय है, वह है जीवन में प्रतिदान की भावना को सदा जाग्रत रखना। "सर्वजन हिताय" कार्य करने की भावना हृदय को सदा शान्त रखेगी। क्रोध की अग्नि तभी भड़कती है जब मनुष्य के स्वार्थ पर प्रहार होता है। "कामात्क्रोधोभि-जायते।" कामना का मूल नाश हो जाय तो क्रोध का बीज स्वयं नष्ट हो जायगा। यहाँ कामना का अर्थ स्वार्थमूलक इच्छा से है। परार्थ की कामना कभी दूषित नहीं होती। उसके अपूर्ण रहने से भी अतृप्तिजन्य क्रोध उत्पन्न नहीं होता।

मन में केवल अर्पण की भावना रहे तो सदैव प्रकृतिस्थ रहता है।

मनुष्य आवेश में तभी आता है जब उसकी स्वार्थहानि की आशंका हो। स्वार्थहीन रहे तो आशंकाओं का स्वयं समूल नाश हो जाता है।

जिसके जीवन का ध्येय-वाक्य "देना ही देना" वन गया हो उसके लिये जीवन से निराशा का कोई कारण ही नहीं बन सकता।

जिस दीपक का धर्म ही यह है कि वह स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश दे उसे किसका भय ?

दीपक बनकर जलने का अर्थ क्या है ?

दीपक अपने अन्तर के स्नेह से प्रज्वलित होता है।

हम भी अपने अन्तर की ज्योति से प्रकाशित हों, तभी हम प्रज्वलित दीपशिखा बनकर संसार के लिए सार्थक बनेंगे।

भगवान ने यह ज्योति-दीप सभी के अन्तर में जलाया है।

"अंतः शरीरे ज्योतिर्मयो हि
शुभ्रो यं वीक्षन्ते यतयो क्षीण दोषाः।"

शरीर के अन्तःमार्ग में वह शुभ्र धवल ज्योतिर्मय प्रदीप्त हो रहा है। किन्तु उसका साक्षात्कार वही कर पाते हैं जिनकी दृष्टि दोषक्षीण हो चुकी है।

सर्वथा निर्दोष कोई भी नहीं होता। जीवन में दोष और

निर्दोष सभी का मेल है। इन द्वन्द्वों से ही जीवन बना है। द्वन्द्वातीत होना असाध्य है।

क्रियात्मक मार्ग यही है कि हम इन द्वन्द्वों में भी समरसता प्राप्त करें, दोनों विरोधी तत्वों का ऐसे समन्वय करें कि मन प्रशान्त रहे और हमारा अन्तर्दीप हमारी अपनी ही प्रतिकूल भावनाओं की आंधी में न बुझ जाय।

बाधाओं से नया बल मिलता है।

शिलाखंडों से टकराकर नदी के जल में नया वेग आता है, इसी तरह जीवन को मार्ग की बाधाओं से लड़कर नई प्रेरणा मिलती है।

कई बार बाधाएं इतनी प्रबल हो जाती हैं कि परिस्थितियों की विकटता के कारण हमारे कदम आगे नहीं बढ़ते।

किन्तु जिनकी आत्मा में बल होता है वे प्रतिकूल परिस्थितियों में और भी वेग से आगे बढ़ते हैं। दृढ़-संकल्प व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों में और भी तेजस्वी हो जाता है।

हमारे अन्दर ही जो आत्मबल का अनन्त स्रोत है वह हमें इतना बल दे सकता है कि हम सारा जीवन उससे ग्रहण करते रहें और दुनिया की सब मुसीबतों से लड़ते रहें।

इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिन्होंने चरम सीमा की प्रतिकूलताओं में असाधारण प्रतिभा दिखलाई। विरोधी तत्वों का उचित समन्वय किया जाय तो वही सहायक बन जाते हैं, बाधाएं ही सहायक सिद्ध होती हैं।

माइकेलेंग्लो ने रोम के गिरजाघरों पर जो चित्र बनाये

वे असीम कष्टों में बनाये। पाँच वर्ष तक वह गिरजाघर में ही कैद रहा। उसके लिए बाहर का द्वार खुलता तक न था। पहले तो पोप ने ही उसे ४ साल तक कैद रखा और बाद में वह काम में इतना व्यग्र हो गया कि बाहरी दुनिया की उसे सुध-बुध ही न रही।

शेक्सपीयर ने भी अपने काव्य असीम आर्थिक कष्ट में लिखे। मिल्टन, वर्डस्वर्थ आदि साहित्यकार भी कष्टों में ही पले।

बड़े काम करने वालों में थोड़े ही ऐसे मिलेंगे जिन्होंने अनुकूल परिस्थितियों में काम किया।

विश्व की सबसे सुन्दर कृतियां हैं वे 'अभागे' मनुष्य जिन्होंने अपने दुर्भाग्य को, आदर्श मनुष्य बनने का कारण बनाया। उनके लेखे उनका भाग्य इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना वह उसे बड़ी सीमा तक वास्तविक मानव बनने की दिशा में परिवर्तित कर सकते हैं।

दुनिया का सबसे तेज दौड़ने वाला व्यक्ति, ग्लेन कनिंघम के पाँव बचपन की एक दुर्घटना में बेकार हो गये थे। डाक्टरों का कहना था, उसके पांवों का ठीक होना चमत्कार द्वारा ही सम्भव है। पर एक दिन वह आया, जब इस पंगु लड़के ने सबसे तेज दौड़ने के सब रेकार्ड तोड़ डाले।

दुख और अस्वस्थता भी कई बार उत्कर्ष में वरदान बन जाते हैं। रोगाक्रान्त होने के अनुभवों से मैं कह सकता हूँ कि

किसी बड़ी अनुभूति की तरह, रोग भी वस्तुतः हमें बदल डालता है। रोग में हमें उन अनेक वर्षों के संस्कारों का मूल्य निर्धारण करने का अवसर मिलता है। रुग्णावस्था की स्थिति में हम स्वयं बदल जाते हैं। रोग के समय बाह्य उपचारों में व्यग्र रहने से जो भीषण दबाव हम पर पड़ता है, वह कुछ काल के लिए हट जाता है। हम अंतर्दृष्टि और आत्मविश्लेषण के प्रदेश में चले जाते हैं। अपने विषय में हमने पहले जो मूल्य लगा रखे थे, वे भ्रामक लगते हैं, अपने भूत और भविष्य के सम्बन्ध में पहली बार शांत भाव से विचार करने का अवसर मिलता है।

रोग हमें संसार का वह अतीव दुर्लभ पदार्थ, दूसरा संयोग, देता है जो न केवल स्वास्थ्य में ही वरन् स्वयं जीवन में भी काम आता है। अस्वस्थता से तुम अपने बहुत से मूर्खतापूर्ण व्यवहारों को जान सकते हो। रोगी होकर हममें नम्रता आती है, और तब अस्वस्थता हमें वास्तविक मनःस्थिति में ले आती है। रुग्णावस्था में हमें स्पष्ट दीखने लगता है।

रोग हमें अंतर्दृष्टि, आशा की सुन्दरता, सबको समझने एवं क्षमा करने का भाव प्रदान करता है। रोग वह साफ करनेवाली अग्नि है जो हमारी बहुत-सी तुच्छता और कथित स्वास्थ्य की अधीरता को गला देती है। मिल्टन ने कहा था : 'जो सबसे उत्तम रीति से कष्ट सहन कर सकता है, वही सर्वोत्तम रीति से काम भी कर सकता है। मेरा अनुभव है कि

जिस व्यक्ति को दुख दिया जाता है उसमें वह दुख एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है। यह सौन्दर्य बाहरी सौन्दर्य नहीं होता, यह तो भीतरी मनोहरता होती है, जो उसकी आत्मा को प्रकाशित कर देती है।

सच तो यह है कि अनुकूलता एवं प्रतिकूलता केवल भिन्न-भिन्न मन:स्थितियां हैं। सुख और दुख भी मन के दो पार्श्व हैं। उनकी स्थिति मन के अन्दर ही है।

हमारा सुख बाहर की घटनाओं और परिस्थितियों पर उतना निर्भर नहीं है जितना स्वयं अपने स्वभाव पर है। मानव मन एक सम्पूर्ण साम्राज्य है जिसमें वह चाहे तो सदा प्रसन्न रह सकता है, नहीं तो सदा आँसू बहा सकता है। स्वर्ग और नरक, सेक्सपीयर के अनुसार, हमारे अन्दर ही हैं।

गीता में कहा गया है :—'आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मन:'।

हमारा दृष्टिकोण ही हमारे जीवन को नरक या स्वर्ग बना सकता है। यदि तुम खुशमिजाज हो तो तुम्हारी खुशी को कोई संकट नहीं छीन सकता, और यदि तुम मायूस हो तो दुनिया की बड़ी से बड़ी खुशी तुम्हारे चेहरे पर रौनक नहीं ला सकती।

महान व्यक्तियों ने अपने मनोबल से अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बनाया था। सभी महान व्यक्तियों के जीवन में ऐसे कोई-न-कोई कारण रहे हैं, जिन्हें वे भली-

भांति अपनी असफलता का कारण बताकर, संतुष्ट होकर चुप बैठ सकते थे। मिल्टन और सूरदास अन्धे थे, बीथोवन बहरा था, चर्चिल हकलाते थे, थैकरे और सुकरात की पत्नियों ने उन्हें आजीवन परेशान रखा, गांगोल अर्ध-विक्षिप्त थे, नरेन्द्रदेव और राजेन्द्रप्रसाद को दमा था, जिसे वे आसानी से अपनी प्रगति न करने का बहाना बना सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया और साहस के साथ उस अवरोध को परे फेंककर अपने लिए बढ़ने का मार्ग निश्चित किया।

हम अपने अवरोधों और असफलताओं की जिम्मेदारी अपने पर न डालकर जिन-जिन वस्तुओं पर डालते हैं, उनकी संख्या भी बहुत अधिक है—समाज, नियति, परम्परायें, परिवार, माता-पिता, मित्र, गुरुजन, आदि। इनमें से कुछ सचमुच हमारी असफलताओं के लिए जिम्मेदार ठहराए जा सकते हैं, पर प्रश्न यह है कि ऐसा सिद्ध करके भी हमें लाभ क्या मिलता है? जन्मान्ध हेलेन कैलर के शब्दों में हमें तो कहना चाहिए : 'मैं ईश्वर को धन्यवाद देती हूँ कि उसने मुझे अन्धी और बधिर बनाया। इन्हीं से मैं ईश्वर तथा उसकी कृतियों को समझ पायी।'

विश्व का सम्पूर्ण इतिहास यह बात कह रहा है—'प्रतिकूलताओं से मत डरो। अपने परिश्रम पर विश्वास रखो। विश्व में जितने स्थायी और महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं, वे उन्हीं लोगों ने किये हैं, जिनकी अध्यवसाय में श्रद्धा रही है।'

वस्तुतः जीवन एक ऐसी पुस्तक के समान है जो प्रत्येक पृष्ठ के बाद कठिनतर होती जाती है। अर्थ भी अधिक

कठिनाई से समझ में आता है। पर अर्थ नहीं है, यह कहना गलत है और सच यह है कि इस जीवन-रूपी पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ पर आते-आते सारा अर्थ भली-भांति समझ में आ जाता है।

अनुपयोगी कार्यों में जीवन-शक्ति के अपव्यय करने की अपेक्षा विश्राम द्वारा जीवन-शक्ति का संचय करना कहीं अधिक श्रेष्ठ कार्य है।

जीवन का वाहन कभी अचानक टूटकर धराशायी न हो जाय इसके लिए आवश्यक है कि मार्ग के पड़ावों पर विश्राम किया जाय।

शरीर के अवयव निरन्तर कार्य से थक जाते हैं। नस-नस में थकान भर जाती है। तब उनमें नये रक्त, नये प्राण-तन्तुओं की आवश्यकता होती है। थकित देह एवं थकित मन से काम करना मृत्यु को पास बुलाना है।

हम अपने अधिकांश काम मन और शरीर की तनावपूर्ण स्थिति में करते हैं। यह उचित नहीं। इस तनाव को दूर करने के लिए हमें विश्राम करना चाहिये।

विश्राम भी एक कला है।

हमें काम करना तो आ जाता है, लेकिन विश्राम करना नहीं आता। जिस प्रकार चिड़ियों के कुछ बच्चे अपनी नैसर्गिक बुद्धि द्वारा उड़ना तो सीख लेते हैं, पर नीचे उतरना नहीं आता, इसी प्रकार हम तेज बढ़ना तो सीख लेते हैं पर अपनी

रफ्तार को धीमा कर आराम करना हमें नहीं आता ।

यह कला भी हमें आनी चाहिये । विश्राम और काम साथ-साथ हो सकते हैं । अत्यन्त व्यस्तता के क्षणों में भी आराम के कुछ क्षण मिल सकते हैं । इसकी अनेक विधियां हैं । मेरे एक मित्र अपनी मेज पर प्राकृतिक दृश्यों का एक अल्बम रखते हैं । थकान अनुभव करते ही, वह अल्बम खोल लेते हैं और अपनी कल्पना में ही उन सुन्दर दृश्यों का परिभ्रमण करके थकान मिटा लेते हैं । कुछ लोग फूलों का स्मरण करते हैं । फूल को खिलने के लिए मेहनत नहीं करनी पड़ती । फूलों से शांत रहने की प्रेरणा मिलती है । इससे थकान मिटती है ।

विश्राम में भी आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलता है ।

विश्राम के क्षणों को आनन्दमय बनाने के लिये आत्माभिव्यक्ति के कार्य हो सकते हैं । ऐसे समय हम अन्य लोगों से आत्मीयता बढ़ा सकते हैं और मैत्री के विकास के अवसर पा सकते हैं । अवकाश के समय मित्रों और पड़ोसियों के प्रति हम और भी सौहार्द दिखला सकते हैं । ऐसे रोचक कार्यों में, दिन का कुछ समय व्यतीत करने से मनोरंजन तो होता ही है, सच्ची अभिव्यक्ति भी मिलती है ।

शेक्सपीयर ने हेमलेट से कहलवाया है : "बस, नरक में ही नींद नहीं आती।" नींद वास्तव में बड़ा वरदान है। शरीर के लिए जिस प्रकार जल, वायु और भोजन आवश्यक हैं, उसी प्रकार नींद भी। अच्छी नींद स्वस्थ मन से ही मिलती है।

एक जापानी कवि ने निद्रा को जीवन के समस्त सुखों का केन्द्र बताते हुए सुन्दर कविता लिखी है। उसका आशय है :—

'मेरे जीवन का समस्त सुख उस छोटे से मुलायम तकिये में केन्द्रीभूत है, जिस पर सर रखकर मैं सुख की नींद सो जाता हूँ; और मेरे जीवन की समस्त आशाएं प्रकृति के नित-नूतन सौन्दर्य में केन्द्रित हैं, जिससे हमारी थकित आंखें तृप्ति का अमृत पान करती हैं।

यह अमृतपान वही कर सकता है जो दिन भर थकने के बाद, शान्त मन से भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रगट करते हुए, आँखें बन्द कर सोता है। उस समय कृतज्ञता से भारी पलकें स्वयं मुंद जाती हैं और ईश्वर अपने आंचल में हमें सुला देता है। ऐसी निद्रा मनुष्य को पूर्ण विश्राम देती हैं।

सर्वश्रेष्ठ कार्यकर्ता वे होते हैं, जो हर समय पूर्ण विश्रामावस्था में हों। विश्रामावस्था में शक्ति का व्यय कम होता है और कार्य अधिक होता है।

विश्राम में हम अपना समय व्यर्थ नहीं गंवाते, क्योंकि विश्राम अकर्मण्यता नहीं है। विश्राम वही है जिसमें काम का रूप बदल देते हैं।

आलस्य में निठल्ले बैठने की अपेक्षा बदले हुए काम में व्यस्त हो जाने से अधिक विश्राम मिलता है।

निठल्ला बैठा हुआ व्यक्ति भी वास्तव में निश्चल नहीं बैठता। उसका मन चलता ही रहता है। उसके मस्तिष्क में उल्टे-सीधे विचार आते रहते हैं और प्रायः देखा गया है कि वह अपने मस्तिष्क को छोटी-छोटी शिकायतों या काल्पनिक दुश्चिन्ताओं से भर लेता है।

अतः यदि तुम दिन भर कोई हाथ का काम करते हो तो अच्छा है कि अवकाश के समय अध्ययन का कार्य करो और यदि तुम दिन भर मस्तिष्क का कार्य करते हो तो अच्छा है अवकाश के समय हाथ का काम करो।

पूर्ण विश्राम करना है तो तुम्हारा विश्राम इतना शान्त होना चाहिए कि न केवल तुम्हारे अंग अपनी चेष्टाएं छोड़ दें, बल्कि मस्तिष्क भी विचार-क्रिया से अवकाश ले ले। मन को इस तरह सर्वथा निष्क्रिय बनाना कठिन कार्य है। अतः इस प्रयत्न में प्रायः धोखा लगा रहता है और इसी धोखे से बचने का उपाय यह है कि अपने अवकाश के क्षणों को तुम किसी उपयोगी कार्य में लगाओ।

यह ठीक है कि सम्पूर्ण विश्रान्ति बहुत उत्तम अवस्था है किन्तु ऐसी विश्रान्ति तो एक औषधि है, खूराक नहीं। औषधि का प्रयोग केवल अस्वस्थ अवस्था में किया जाता है, नीरोग अवस्था में तो केवल खूराक ही खायी जाती है और वह खूराक है कर्म करना।

विश्राम को हम यज्ञावशेष कह सकते हैं। यज्ञावशेष का महत्व यज्ञ से कम नहीं होता।

९.

अविनाशि तु तद्विद्धि

देह जीर्ण होता है, मन नहीं

जो प्राण-शक्ति समस्त जगत में व्याप्त है वह अविनाशी है। वह कभी मरती नहीं।

जो आज है वह कल भी था और आने वाले कल भी किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहेगा।

यह अन्ध श्रद्धा नहीं, विज्ञान-सम्मत सत्य है।

रूप-परिवर्तन को ही हम मृत्यु कह देते हैं। वस्तुतः रूप ही जीता और मरता है, वस्तु जीवित रहती है।

हम भी रूप बदलते हैं, चोला बदलते हैं। पुराने उतार कर नये पहनते हैं।

अव्यक्त, अप्रगट ही व्यक्त होता है और फिर वही अपने अव्यक्त स्वरूप में लीन हो जाता है।

हम जिसे मृत्यु के नाम से पुकारते हैं, उसके दो पहलू हैं : एक वह जिस ओर हम जीवन पूरा करके जायेंगे, और एक वर्तमान रूप। अमरत्व मृत्यु के साथ आरम्भ नहीं होता। अमर तो हम अभी भी हैं। मृत्यु के पश्चात् और कुछ नहीं होता, हमारे जीवन का स्वरूप बदल जाता है।

जीवन का सबसे सन्तोषप्रद सत्य यह है कि जीवन और मरण एक ही अनुभूति के दो पहलू हैं।

जगत का आधारभूत सिद्धान्त मृत्यु नहीं, जीवन ही है। जीवन और मरण एक ही अनुभूति के दो पहलू हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसी घटनाएं घटित होती हैं जिनसे उसका यह विश्वास दृढ़ होता है कि जीवन मृत्यु के बाद भी समाप्त नहीं होता। मुझे भी ऐसा प्रसंग देखने का अवसर मिला था।

मेरे एक रिश्तेदार थे जो भावुक बिल्कुल नहीं थे। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण विशुद्ध वैज्ञानिक था। एक दिन मुझे सूचना मिली कि उनका अंत समय निकट है। डाक्टर का कहना था कि उनकी हृद्‌गति बड़ी धीमी पड़ गयी है और वह तीन-चार घंटे से अधिक नहीं जियेंगे।

किन्तु कुछ देर अचेत रहकर उन्होंने आँखें खोलीं। उनकी हृद्‌गति अब साधारण अवस्था में थी। जब वह कुछ बोलने योग्य हुए, तो उन्होंने कहा : 'जब मैं बेहोश था, तब मुझे एक बड़ा विचित्र अनुभव हुआ। मुझे लगा, मैं एक सुदूर, रम्य स्थान पर पहुंच गया हूँ, जो दीपावलियों से जगमग था।

सुन्दर और देवता-स्वरूप व्यक्ति वहां रमरण कर रहे थे। वहां पहुंचकर मुझे जो आनन्द मिला, वह जीवन में कभी नहीं मिला था। इस सुखानुभूति के बीच मुझे ध्यान आया कि शायद मैं तो मर गया था। फिर मुझे बड़े जोर की हँसी आयी, और मैंने स्वयं से ही कहा: 'सारी जिन्दगी मैं मौत से डरता आया था, पर यह डर व्यर्थ था, क्योंकि मृत्यु इतनी आल्हाददायक है, यह मुझे मालूम नहीं था।'

मैंने पूछा: 'इसके बाद क्या आपकी इच्छा जीने की हुई?'

उन्होंने मुस्कराकर कहा: 'अब मेरे लिए दोनों बराबर हैं। बल्कि जीवन से अधिक मुझे पसन्द है, मौत।'

विभ्रांति? स्वप्न? कल्पनाएं? नहीं, मैं ऐसा नहीं समझता। क्योंकि जो वर्णन मुझे दिया गया था, वह उन वर्णनों से बहुत मिलता था जो सौन्दर्यपूर्ण वस्तुओं को देख कर लोगों ने मुझे दिया था।

जब सर थामस मूर को फांसी दी जाने लगी, तब उन्होंने फांसी देने वाले से कहा: 'मुझे ऊपर सुरक्षा-पूर्वक पहुँचा देना, नीचे तो मैं सुरक्षा-पूर्वक स्वयं आजाऊँगा।'

ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे मृत्यु को क्रूर और निर्मम माना जाय। बूढ़े और अशक्त लोग मौत का सदा स्वागत करते हैं। रोगी व्यक्ति जब रोग से परेशान हो जाते हैं तो मौत को ही याद करते हैं। मैंने ऐसे बहुत से लोगों को देखा है जो सारी जिन्दगी मौत से डरते रहे, पर अन्त में उन्होंने मौत का प्रसन्नता-पूर्वक स्वागत किया।

मृत्यु का भय केवल कल्पित है।

इसे केवल दीर्घ काल का विश्राम ही समझना चाहिये।

आखिर मृत्यु क्या है ?

चाँद-सूरज की किरणों के साथ मिल जाना, हवा और बादलों में समा जाना, तारों की दुनिया में चले जाना।

दूर से सुन्दर दिखलाई देने वाली यह दुनिया पास से भी सुन्दर ही होगी।

उससे डरना उसी तरह अकारण है जिस तरह बच्चे का सुन्दर खिलौने से डरना।

मृत्यु से डरने का एक कारण यह भी है कि हम जीवन से विदाई लेने के समय को बड़ा कष्टप्रद मानते हैं। हमारा विश्वास है कि जीवन के अन्तिम श्वास बड़े कष्टप्रद होते हैं और मृत्यु के क्षणों का कष्ट बड़ा असह्य होता है।

सचाई यह है कि मृत्यु के क्षण कष्टप्रद नहीं होते।

किन्तु यह भी सच है कि लोगों के मन से यह बात दूर करना कि मृत्यु में कोई कष्ट नहीं होता कठिन है।

इस संबन्ध में अनेक डाक्टरों ने अपनी सम्मतियां प्रगट की हैं।

एक डाक्टर का कथन है कि मृत्यु से पूर्व, मरने की इच्छा मन में अवश्य रहती है। उसका कहना है कि : 'मैंने कभी ऐसा नहीं देखा कि मरने वाले को बिना पूर्वाभ्यास के और अपनी इच्छा के मृत्यु की गोद में जाना पड़ा हो।

मनुष्य को मृत्यु के अंतिम क्षण तक कोई कष्ट नहीं होता। मृत्यु-काल से बहुत पूर्व रुग्णावस्था में व्यक्ति को कितना ही कष्ट उठाना पड़ा हो, मृत्यु से कुछ क्षण पूर्व उसे परम शांति का अनुभव होता है।'

जिसे हम मृत्युपीड़ा कहते हैं, वह केवल काल्पनिक वस्तु है। म्रियमाण व्यक्ति की चेष्टाएँ अवश्य बड़ी भयावह दिखलाई देती हैं, किन्तु यह केवल स्नायुओं की प्रतिक्रियाएं होती हैं, उसकी आत्मा उस समय इन बाह्य चिह्नों से अलग चरम-शांति का अनुभव किया करती है।

अठारहवीं सदी के एक चिकित्सक ने मृत्यु से पूर्व के क्षणों में कहा था : 'यदि मेरे हाथ में कलम पकड़ने की शक्ति होती तो मैं लिखकर बताता कि मृत्यु कितनी आसान और सुखद है।' फ्रांसीसी कवि पाल स्केरन ने भी मृत्यु के अंतिम क्षणों में कहा था : 'मुझे ज्ञात न था कि मरना इतना आसान है। मैं मृत्यु पर हँस सकता हूं।'

मृत्यु के समीप पहुंचकर, हृदय से रक्त का प्रवाह धीरे-धीरे कम हो जाता है। जीवन की ज्योति धीरे-धीरे धीमी होती जाती है। मस्तिष्क की बोध-शक्ति क्षीण हो जाने से कष्ट की चेतना भी मन्द हो जाती है। मरने वाले व्यक्ति को विचित्र स्वर सुनाई देते हैं और विचित्र प्रकाश दिखाई देता है। क्रमशः वह उस प्रकाश के गर्भ में समा जाता है।

मृत्यु एक दीर्घ शयन के समान है। वृद्ध व्यक्ति प्रायः ऐसी ही निद्रा में डूब जाते हैं। वे सो जाते हैं और फिर कभी नहीं उठते। बच्चों का भी यही होता है, उन्हें भी

मरते समय कोई कष्ट नहीं होता ।

मरने के समय स्मृति बिल्कुल साफ हो जाती है। गेटे ने मृत्यु के समय यूनानी कविता का पाठ किया था, यद्यपि उसे यूनानी भाषा का अभ्यास छोड़े ५० वर्ष बीत चुके थे।

मृत्यु इतनी भयानक नहीं है, जितना उसके विषय में प्रचलित है। हम उस छोटे बच्चे पर हँसते हैं जो पहली कक्षा के अध्यापकों से डरता है, उस छोटी लड़की पर हँसते हैं जिसे बस पर चढ़ने से डर लगता है। मृत्यु से हमारी भीति भी ऐसी ही कल्पित विभीषिकाओं से कम नहीं है। जिस प्रकार नींद से हमें सारे दिन की चिन्ताओं से मुक्ति मिल जाती है, उसी प्रकार मृत्यु भी हमें सारे जीवन की चिन्ताओं से मुक्ति दिला देती है। हमें इसका स्वागत करना चाहिये, इससे भयभीत होने का कोई कारण नहीं।

मृत्युभय को मन से दूर कर ही मनुष्य सफल जीवन यापन कर सकता है। मानसिक बल के आधार पर ही मनुष्य जवान भी रह सकता है। मन ही मनुष्य को युवक और वृद्ध बनाता है।

हमारे जीवन की सारी गतिविधि का मौलिक सूत्रधार वास्तव में हमारा मन ही है, जो हमारे जीवन को निर्णायक रूप से प्रभावित करता है।

हमें चाहिए कि हम अपनी अभिरुचियों को कुंठित न होने दें, नवीन रस ग्रहण करने दें। पुरानी रुचियां संजोकर

रखें, पर नयी भी जोड़ते जाएँ।

नयी आयु के लोगों के जीवन में, एक आनन्द रहता है। प्रायः हम समझते हैं कि जैसे-जैसे आयु बीतती जायगी, वह आनन्द नहीं रहेगा, और हम बूढ़े होने के लिए मजबूर हैं।

यह ठीक नहीं है। जीवन में वर्षों की गणना का कोई महत्व नहीं। हमारा मन और शरीर युवा है तो हम भी युवा हैं। सच तो यह है कि आयु विचार-शक्ति और अनुभूति की तीव्रता से जाँची जानी चाहिए। यदि हम युवावस्था में शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का नियमित रूप से पालन करें तो युवावस्था के बाद का हमारा जीवन भी उतना ही आनन्दपूर्ण और उपयोगी होगा।

वृद्धावस्था कष्टप्रद नहीं है, यदि नया उत्साह बना रहे और मनुष्य अपनी सामाजिक एवं पारिवारिक उपयोगिता बनाये रखे।

नयी-नयी चीजें सीखने से, जीवन का उत्साह आजीवन ठंडा नहीं होता। आयु बढ़ने पर भी जीवन को उपयोगी और सुन्दर बनाने का उपाय है, आयु के साथ-साथ बदलती हुई शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अनुभूति सम्बन्धी समस्याओं को अच्छी तरह समझते रहना।

आयु बढ़ने पर हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ कुछ शिथिल पड़ जाएँगी, पर वे सब काम नहीं छोड़ बैठेंगी। उस समय उन्हें कार्यशील और शक्तिशाली बनाए रखने के लिए, हमें अपनी आयु के योग्य व्यायाम और विश्राम के स्वाभाविक नियमों में थोड़ा

हेर-फेर करना होगा। भोजन में अन्न की मात्रा कम करके, दूध, फल, और सब्जियों की मात्रा बढ़ानी होगी। दंड, बैठक के स्थान पर टहलना होगा, आसन करने होंगे। आराम के समय को बढ़ाना होगा।

यौवन जीवन का कोई नियत समय नहीं अपितु मन की स्थिति है, इच्छा का उद्वेग है, कल्पना की विशिष्टता है, अनुभूतियों का प्राबल्य है, भीरुता पर पराक्रम का प्रभुत्व है, आलस्य के प्रति प्रेम की अपेक्षा साहसिक कार्यों की भूख है।

अधिक वर्षों तक जीने से ही कोई वृद्ध नहीं हो जाता। लोगों पर बुढ़ापा तभी आता है जब वे अपनी इच्छा-शक्ति को तिलांजलि दे देते हैं। आयु शरीर पर झुर्रियाँ डाल देती है, किन्तु उत्साहहीनता आत्मा पर झुर्रियाँ डालती है। चिंता, सन्देह, आत्मसंशय, भय और निराशा ही वे लम्बे-लम्बे वर्ष हैं जो सिर को झुकाकर विकासोन्मुख आत्मा को मिट्टी में मिला देते हैं।

मनुष्य किसी भी आयु में हो उसके हृदय में विश्व के रहस्यों के प्रति आश्चर्य तथा नक्षत्रों और नक्षत्रों जैसी वस्तुओं के प्रति मधुर आकर्षण रहता ही है। तभी वह घटनाओं की निर्भीक चुनौती को बच्चों की अतृप्त जिज्ञासा के समान उल्लास और जीवन की क्रीड़ा समझता है।

हम उतने ही जवान हैं, जितना हमें विश्वास है, और उतने ही बूढ़े हैं जितना हमें सन्देह है।

हम उतने ही जवान हैं जितनी हमारी साहसिकता है, और उतने ही बूढ़े हैं जितनी हमारी निराशा है।

जब तक इस पृथ्वी पर हमारा हृदय प्रकृति से असीम सौन्दर्य, उल्लास, साहस, वैभव और शक्ति का सन्देश प्राप्त करने में समर्थ है तब तक हम जवान हैं।

जब सारे शरीर के स्नायु-तन्तु शिथिल पड़ जायें और हमारे हृदय का केन्द्रस्थान नैराश्य की शीत और कटुता की वर्फ से ढक जाय तभी हमें अपने को बूढ़ा समझना चाहिये, और तब परमात्मा से यही प्रार्थना करनी चाहिये कि वह हमें इस जगत से उठा ले।

तब हम न कुछ ग्रहण करने योग्य रहते हैं, न देने योग्य। जब तक हम देते रहते हैं, जिन्दा रहते हैं।

●